श्लोक—**भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।**
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान किए हुए और सुन्दर आभूषण वस्त्रादि पहने हुए, माला चन्दन आदि से सुशोभित राजाओं को सुन्दर अन्न का भोजन कराया, अनन्तर राजाओं के योग्य ताम्बूल आदि दिये यों सत्कार किया ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—ततो **वरान्नेन** पक्वेन **भोजयित्वा** पुनः सायं **सुस्नातान् समलङ्कृतान् विविधैर्भोगैर्नृत्यगीतादिभिर्युक्तान्** चकार । नृपभोगे प्रथमं ताम्बूलमिति अन्नवस्त्राणां सर्वसाधारण्यादवान्तरभेद एव भवति । तत्रापि **नृपोचितैः** ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ— पश्चात् सुन्दर पक्वान्न आदि पदार्थों से भोजन कराया फिर शाम को स्नान कराके वस्त्र आभूषणों से समलङ्कृत किया और अनेक प्रकार के भोग नृत्य आदि से उनको प्रसन्न किया, राजाओं के भोग में पहिले ताम्बूल का आदर है, उनके यहां अन्न वस्त्रादि तो साधारण हैं वह अवान्तर है, उसमें भी यह सर्व राजाओं के योग्य किया गया ॥२६॥

आभास—भगवत्संस्कृतांस्तान् वर्णयति **ते पूजिता** इति ।

आभासार्थ— भगवान् से संस्कृत उन राजाओं का वर्णन करते है । 'ते पुजिता' श्लोक में।

श्लोक—**ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।**
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् ने उनका सत्कार किया, तब वे उज्वल कुण्डल धारण किए, क्लेश से मुक्त हो वैसे शोभा देने लगे जैसे वर्षा ऋतु के अन्त में ग्रह शोभा देते हैं ॥२७॥

सुबोधिनी— पूर्वमन्यद्वारा संस्कृता अपि वाक्यैरुत्तमपदार्थदानेश्च **मुकुन्देन** पुनः **पूजिताः** सर्व एव **राजानः मृष्टकुण्डलाः** रत्नोज्ज्वलकुण्डलाः सन्तः राज्यलक्षणं प्राप्य विशेषेण **रेजुः** पूर्वावस्थापेक्षायापि । तत्र हेतुः **क्लेशाद्विमोचिता** इति । क्लेशभोगानन्तरं पुनः संस्कारे अधिका कान्तिर्भवति । **अत्र** दृष्टान्तमाह **प्रावडन्ते यथा गृहा** इति पूर्वापेक्षयापि मेघापगमे ग्रहाः शुक्रादयः सोज्ज्वला भवन्ति वृष्ट्या मेघगत्या च मध्ये स्थिताः भूरेणवः अपगच्छन्तीति मलिनानां व्यवधायकत्वाभावात् ग्रहा उज्ज्वला भवन्ति । एवं पुरुषा अति भोगेन पापनाशात् संस्कारेण बहिर्मालिन्याभावाच्च भूषणैरत्यूज्ज्वला भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ— पहले अन्य द्वारा पूजित थे, तो भी वचनों और उत्तम पदार्थों के दानों से मुकुन्द ने फिर उनका पूजन किया, तब रत्नों से उज्वल कुण्डलों को धारण करने से राज्य के

लक्षण को प्राप्त किया अर्थात् राजा देखने में आए जिससे आगे से भी विषेश शोभा देने लगे, उसमें भी कारण यह है, कि क्लेश से छूट गए । क्लेश भोगने के अनन्तर फिर संस्कार होने से विशेष कान्ति अर्थात् शोभा होती है जिसमें दृष्टान्त देते हैं, वर्षा के अनन्तर जैसे शुक्र आदि ग्रह विशेष चमकने लगते हैं, वृष्टि से और बादलों की गति से मध्य में स्थित जो भू रेणु थे वे चले जाते हैं, इसलिए मलीन करने वाले पदार्थों का अभाव हो जाने से ग्रह चमकने लगते हैं, इस प्रकार पुरुष भी भोग से पापों का नाश हो जाने पर संस्कार से बाहर मलीनता का अभाव होने से और आभूषणों से बहुत उज्वल होते हैं ।२७॥

आभास—ततो भगवान् स्वसङ्गे समानेष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह **रथान् सदश्वानिति** ।

आभासार्थ— राजा लोग मन में यों विचार रहे थे कि कदाचित् भगवान् हमको अपने साथ ले चलेंगे, इस शङ्का का 'रथान्' श्लोक से निवारण करते हैं ।

श्लोक—**रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।**
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्रेष्ठ घोड़ों वाले, रत्न व सुवर्ण से शोभित रथों पर बैठकर मधुर वचनों से प्रसन्न कर राजाओं की अपने देश को रवानगी की ॥२८॥

सुबोधिनी—सर्वे रथारूढाः कृताः । उत्तमाश्वाश्च रथेषु योजिताः ते च **रथाः मणिकाञ्चनादिभिर्भूषिताः** । ततः **सूनृतैरपि वाक्यैः** तान् नृपान् **प्रीणय्य** । एवं कायवाङ्मनोभिः तान्स्वात्मना सुखिनः कृत्वा **स्वदेशान्** तत्तद्देशान् **प्रत्ययापयत्** प्रस्थापितवान् । प्रत्यापत्तिः निरोधे आवश्यकी सा च गृहस्थितिपर्यन्ता अन्यथा सामिकृता स्याद् ॥२८॥

व्याख्यार्थ— सबको रथों में बैठाया, रथों में उत्तम घोड़े जोड़े और रथों को मणि तथा सुवर्ण आदि से सुशोभित किया था, पश्चात् मधुर वाक्यों से उन राजाओं को प्रसन्न कर, इसी प्रकार काया, वाणी, और मन से उनको सब तरह सुखी कर जिनके जो देश थे उन उन देशों में उन उन को भेजा, निरोध में प्रत्यापति आवश्यकी है किन्तु वह जब तक अपने घर में रहे अन्यथा आधी की हुई मानी जायगी ॥२८॥

आभास—एवं भगवत्पुरस्कृतानां स्वदेशगमनमाह **त एवमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् से आदर पाए हुवे राजाओं का स्वदेश गमन का वर्णन 'त एवं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**त एवं मोक्षिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।**
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः॥२९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जगत् के पति महात्मा श्रीकृष्ण के छुड़ाए हुवे कष्ट से मुक्त राजा लोग उनको और उनके चरित्रों का ध्यान करते हुए अपने अपने देशों को गए ।।२९।।

सुबोधिनी—लोके ये मोक्ष्यन्ते तेभ्यः प्रत्युत किंचिद्गृहीत्वा अगृहीत्वा वा शृङ्खलादिभ्यः केवलं पृथक् क्रियन्ते न त्वेवं सर्वसुखसाधनैः संयुज्यन्ते एते **त्वेवं मोक्षिताः** तत्रापि **कृच्छ्रार्तिक**-चिद्विलम्बे प्रमथनाथाय छिन्ना भवेयुरिति । यतः **कृष्णेन** सदानन्देन मोक्षे मोचकधर्मानुप्रवेशादेव मित्यर्थः । महात्मा परं स्वोपकार- व्यतिरेकेणैव परं मुञ्चति अयं तु अयं तु **सुमहात्मेति** स्वतः सर्वदानं युक्तं अतस्तमेव **ध्यायन्तो ययुः** भगवत्कृतानि च संमाननादीनि । एतच्च स्मरणं तेषां युक्तमेव भगवान् भर्तैत्यावश्यकत्वात् न त्वनेनापि कृतनिष्क्रिया इति ज्ञापनाह **जगत्पतेरिति** ॥२९॥

व्याख्यार्थ— लोक में यह परिपाटी है कि जो छोड़े जाते हैं, उनसे कुछ लेकर अथवा न लेकर केवल अलग किए जाते हैं, न कि इसी भाँति सर्व प्रकार के सुख के साधन उनको देते हैं, ये तो भगवान् ने इस प्रकार छुड़ाये अर्थात् छुड़ाने के बाद सर्व प्रकार के सुख के साधन भी दिए, उसमें भी, बड़े क्लेश में पड़े हुए थे वहाँ से छुड़ाए, यदि थोड़ा विलम्ब हो जाता तो प्रमथनाथ के लिए नष्ट किए जाते थे जिससे सदानन्द कृष्ण द्वारा मोक्ष कराने (मुक्त किए हुए राजाओं) में मोचक के धर्म के प्रवेश से, यों हुवा है यह तात्पर्य है, जो महात्मा होता है वह ही जब अपना लाभ सामने वाले से होगा ऐसा विचार त्याग, शत्रु को छोड़ देते हैं तो ये तो 'सुमहात्मा' हैं अर्थात् बड़े सच्चे महात्मा हैं, इसलिए ऐसे महान् सुन्दर आत्मा तो स्वतः सर्व दे दे यह उचित है अतः उनका और भगवान् के किये हुए सम्मान आदि का ही ध्यान करते हुए गए, यों यह स्मरण करना इनको उचित ही है, क्योंकि भगवान् ही भरण करने वाले हैं, इसलिए आवश्यक है, न कि इससे भी निष्क्रिय किए हैं यों जताने के लिए कहा है कि 'जगत् पति' हैं जगत् के पति सबके हितैषी होने से किसी को भी अक्रिय नहीं बताते हैं ।।२९।।

आभास—स्वगृहं गताः आश्चर्याभिनिविष्टेभ्यः स्वगृहस्थेभ्यो जगुरित्याह **जगदुः प्रकृतिभ्यस्त** इति ।

आभासार्थ— अपने घर गए तो घर वाले इन को देख, आश्चर्य करने लगे ऐसे अपने घर वालों को 'जगदुः' श्लोक में सारा हाल बताते है ।

श्लोक—**जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते मयापुरुषचेष्टितम् ।**
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ।।३०।।

श्लोकार्थ—वहां जाकर अपनी प्रजा से भगवान् का सर्व चरित्र कहा और भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह आज्ञा आलस त्याग पालन की ।।३०।।

सुबोधिनी—एवमेव हि महापुरुषचेष्टितं भवतीति **महापुरुषस्य भगवतश्चेष्टितम्** । ततो निरभिमानतयैव पालनं कृतवन्त इत्याह **यथान्व**-**शासदिति** ।।३०।।

व्याख्यार्थ— इस प्रकार ही महापुरुषों का इच्छित होता है, इस कारण से वे राजा निरभिमान होकर पालन करने लगे ।।३०।।

आभास—एवं तेषां जीवन्मुक्तावस्थां निरूप्य जरासंधवधस्य मुक्त्युपयोगित्वमुक्त्वा भक्तिधर्मोपयोगित्वं वक्तुमिन्द्रप्रस्थं प्रत्यागमनमुच्यते **जरासंधं घातयित्वेत्यादिपञ्चभिः** ।

आभासार्थ— इस प्रकार उन राजाओं की जीवन्मुक्त अवस्था का निरूपण कर, जरासन्ध के वध का मुक्ति के उपयोगिपन कह कर, भक्ति और धर्म का उपयोगिपन कहने के लिए इन्द्रप्रस्थ लौट कर आने का वर्णन 'जरासंधं घातयित्वा' श्लोक से पांच श्लोको में कहते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**जरासंधं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।**
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पूजितः ।।३१।।

श्लोकार्थ—भीमसेन द्वारा जरासन्ध का नाश कराके, सहदेव से पूजित भीम और अर्जुन के साथ केशव जाने लगे ।।३१।।

सुबोधिनी—**भीमसेनेन** करणेन जरासंधहनम् । ब्रह्ममहादेवयोः तद्रक्षाभावे हेतुः **केशव** इति । कश्च ईशश्च तयोर्मोक्षदातृत्वादुपजीव्य इति । ततः अक्षताभ्यां **पार्थाभ्यां संयुतः** सन् पितृवधमस्मृत्वापि **सहदेवेन** देवांसेन **पूजितः प्रायात्** । पूर्ववत् द्वेषं परित्यज्य प्रकर्षेण निर्गत इत्यर्थः ।।३१।।

व्याख्यार्थ— भीमसेन को साधन बना कर उस साधन से जरासन्ध को मरवाया, ब्रह्मा और महादेव, दोनों में से एक ने भी क्यों नहीं बचाया? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'केशव' स्वयं केशव हैं ब्रह्मा और शिव दोनों को मोक्ष देने वाले होने से उपजीव्य हैं, पश्चात् किसी प्रकार का घाव जिनको नहीं हुआ है वैसे दोनों भ्राताओं, (भीम और अर्जुन) के साथ और पिता के वध को स्मरण न कर सहदेव द्वारा पूजित केशव ने इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान किया, पूर्व की तरह द्वेष छोड़ कर प्रसन्नता से रवाना हुए यों अर्थ है ।।३१।।

आभास—एवं समागत्य दूरादेव स्वागमनं ख्यापितवन्त इत्याह **गत्वा ते खाण्डवप्रस्थमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार अच्छी तरह आकर दूर से ही अपने आने की प्रसिद्धि करने लगे वह 'गत्वा ते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः ।**
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुर्हृदां चासुखावहाः ।।३२।।

श्लोकार्थ—वहाँ से खाण्डवप्रस्थ जाकर शत्रु को जीत कर आए हैं उसके सूचक शङ्ख की ध्वनि की, जिससे शत्रुओं को दुःख दिया और मित्रों को आनन्दित किया ।।३२।।

सुबोधिनी—इन्द्रप्रस्थनिकटे खाण्डवदाहानान्तरं तत्र नगरं निर्मितमस्ति भगवता कौतुकातिशययुक्तं तत्र **गत्वा** । इन्द्रप्रस्थस्थज्ञापनार्थं **शङ्खान् दध्मुः** 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इति श्लोकोक्तान् । यतो **'जितारयः** उत्साहेन वादितवन्तः। तस्य वादनस्य **स्वसुहृदां** हर्षजननं प्रयोजनं **दुर्हृदां** दुःखजननं च । प्रायेण रात्रौ समागताः ।।३२।।

व्याख्यार्थ— इन्द्रप्रस्थ के समीप, खाण्डव के दाह होने के बाद वहां नगर बसाया है, भगवान् अतिशय कौतुक युक्त हो वहाँ जाकर इन्द्रप्रस्थ में मालूम हो जाए कि हम आए हैं इसलिए शङ्खों को बजाये । 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इस श्लोक में कहे अनुसार बजाए उत्साह से बजाए क्योंकि शत्रुओं को जीत कर आए थे जिससे उत्साह था, उनको बजाने का प्रयोजन यह थाकि अपने मित्रों को इस ध्वनि से हर्ष होगा और शत्रुओं को दुःख उत्पन्न करेंगे, बहुत कर रात्रि को आए थे ।।३२।।

आभास—यदर्थं वादितवन्तः तज्ज्ञातमित्याह **तच्छ्रुत्वेति** ।

आभासार्थ— जिसके लिए बजाए वह हुआ, यह 'त च्छ्रुत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।**
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ।।३३।।

श्लोकार्थ—इन्द्रप्रस्थ के रहने वालों ने यह शङ्खनाद सुनकर जान लिया कि जरासन्ध मर गया, उनका चित्त प्रसन्न हुआ और राजाओं के मनोरथ भी पूर्ण हुए ।।३३।।

सुबोधिनी—**इन्द्रप्रस्थनिवासिनः** सर्वे **प्रीतमनसो** जाताः । शब्दं श्रुत्वैव **मागधं शान्तं मेनिरे । राजा च प्राप्तमनोरथो** जातः ।।३३।।

व्याख्यार्थ— सब इन्द्रप्रस्थवासी प्रसन्न चित्त वाले हो गए शङ्ख का शब्द सुनते ही समझ गए कि जरासन्ध शान्त हो गया अर्थात् मर गया और राजा युधिष्ठिर का मनोरथ पूर्ण हो गया ।।३३।।

आभास—एवमानन्दयुक्तेषु पुरवासिषु पश्चान्नयनानन्दं दातुं समागता इत्याह **अविवन्द्याथराजानमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार आनन्दित नगर वासियों को नयनानन्द देने के लिए आ गए यह 'अभिवन्द्याथ' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**अविवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।**
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठर को प्रणाम कर आपने जो कुछ किया वह सब राजा को सुनाया ।।३४।।

सुबोधिनी—त्रयोऽपि क्रमेण प्रस्तावानुसारेण वृत्तान्तमाश्रावयाञ्चक्रुः । **आत्मनाः** भगवता स्वेन वा । यद्यप्यर्जुनेन कृतं न स्पष्टं शास्त्रयुद्धादिसंप्राप्तौ रक्षा तेनैव कृतेति ज्ञातव्यम् । तथापि अनुष्ठितस्य साधारण्येन निरूपणात् ।।३४।।

व्याख्यार्थ— तीनों ने क्रम से (प्रारम्भ से) लेकर सर्व वृत्तान्त सुनाया, भगवान् स्वयं ने स्पष्ट कर सुनाया, यद्यपि अर्जुन ने जो किया वह स्पष्ट नहीं था तो भी शास्त्र युद्ध आदि आ पड़ने पर अर्जुन ने ही रक्षा की थी यों जान लेना चाहिए, किये हुवे कार्य का साधारण रीति से निरूपण होने से ।।३४।।

आभास—एवं श्रावणे युधिष्ठरस्य भगवति मतिर्जातित्याह **निशम्येति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार सुनने से युधिष्ठिर की भगवान् में बुद्धि हुई ।

श्लोक—**निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।**
आनन्दाश्रुकणान् मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किंचन ।।३५।।

श्लोकार्थ—भगवान् की कृपा से सब कुछ हुवा यह सुनकर धर्मराज के नेत्रों से आसुओं की धारा बहती रही अतः प्रेम के कारण राजा कुछ कह न सके ।।३५।।

सुबोधिनी—यतो **धर्मराजः** अधिकारी । एतत्सर्वं **केशवेनानुकम्पितं** कृपया कृतमिति ज्ञातवान् न तु स्वभ्रातृपौरुषमिति । ततः प्रेमातिशयादा**नन्दाश्रुकणान्मुञ्चन्** वाक्स्तम्भे जाते प्रशंसाभिनन्दनादिकं किमपि नोक्तवानित्यर्थः । ।।२५।।

व्याख्यार्थ— ऐसा क्यों हुआ ? धर्मराज अधिकारी हैं इसलिए हुआ । यह सब भगवान् ने कृपा कर किया है, यों समझा, मेरे भ्राताओं को यह पौरुष नहीं है विशेष प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे जिससे वाणी रुक गई अतः प्रशंसा अभिनन्द आदि कुछ भी न कर सके ।।३५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां त्रयोविंशाध्यायविवरणे उत्तरार्धे चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ।।२२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७०वें अध्याय (उत्तरार्ध २४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७४वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७१वाँ अध्याय
उत्तरार्ध २५वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—४"

भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का उद्धार

कारिका—**पञ्चविंशे निरुद्धस्य राज्ञो धर्मो निरूप्यते ।**
प्रतिबन्धविहीनस्य प्रेमगद्गदचेतसः ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस पच्चीसवें अध्याय में, निरोध किए हुए, निरोध रहित और प्रेम से गद्गद् चित्त वाले राजा का धर्म निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**आधिदैविकयज्ञोऽपि धर्मेऽत्र विनिरूप्यते ।**
तत्रापि बाधकं कृष्णो न्यवारयदितीर्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस धर्म (यज्ञ रूप कर्म) में आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) का भी निरूपण किया जाता है, उस आधिदैविक यज्ञ में अर्थात् श्रीकृष्ण की पूजा में भी विघ्न करने वाले शिशुपाल को श्रीकृष्ण ने दूर कर दिया अर्थात् नाश किया यह निरूपण है ॥२॥

कारिका - **मोचनादेव राज्ञां हि तत्सेवाऽत्र निरूपिता ।**
ब्रह्मण्यत्वान्मागधस्य ब्राह्मणेष्वत्र संशयः ॥३॥

कारिकार्थ—जिन राजाओं को जरासन्ध के बन्धन से मुक्त किया था उन्होंने जो सेवा की, उसका भी वर्णन यहाँ कहा है । जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था जिससे ब्राह्मणों में यहाँ संशय होगा ॥३॥

कारिका—**अतः सर्वेऽत्र ऋषयो निरूप्यन्ते स्वनामतः ।**
आधिदैविकयज्ञस्य सर्वोत्कर्ष उच्यते ॥४॥

कारिकार्थ—इस संशय निवृत्ति के लिये समस्त ऋषियों का नाम ले लेकर वर्णन किया है और यहां आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) की सर्व प्रकार से उत्कृष्टता कही जाती है ॥४॥

कारिका—**आध्यात्मिकस्तु तच्छेषः प्रधानार्थो यतः परः ।**

कारिकार्थ—आध्यात्मिक यज्ञ तो उसका शेष भाग है, कारण कि मुख्य प्रयोजन-वाला दूसरा यज्ञ तो आधिदैविक यज्ञ ही है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भक्त्यानन्दपूर्णो जात इति निरूपितम् । इदानीं तादृशस्य मनोरथसिद्धिर्निरूप्यते । आदौ स भक्तो जात इति वक्तुं पूर्वमाज्ञापनेन भक्तविरुद्धकारी भूत्वा सांप्रतं तत्परिहारं कृतवानिति निरूप्यते पञ्चभिः । तत्र दोषपरिहारार्थं प्रथम-मुद्यममाह **एवं युधिष्ठिर** इति ।

आभासार्थ— पूर्व अध्याय के अन्त में कहा है, कि युधिष्ठिर भक्ति से उत्पन्न आनन्द में मग्न हो गया, अब वैसे राजा के मनोरथ की सिद्धि का वर्णन किया जाता है, प्रारम्भ में वह भक्त था, इसलिए प्रथम आज्ञापालन करने से, भक्त विरुद्ध कार्य करने वाला हुआ था, अब उसका त्याग किया है जिसका पांच श्लोकों में वर्णन किया है, वहां दोष के परिहार करने के लिए 'एवं युधिष्ठिरो' श्लोक में श्री शुकदेवजी प्रथम उद्यम का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**एवं युधिष्ठिरो राजा जरासंधवधं विभोः ।**
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार, युधिष्ठिर राजा, जरासंध का वध और सर्व समर्थ प्रभु

श्रीकृष्ण का वह प्रभाव सुनकर प्रसन्न हुआ जिससे श्रीकृष्ण को निम्न प्रकार कहने लगा ।।१।।

सुबोधिनी—स्व धर्मनिष्ठो महान् भगवदुपकारं श्रुत्वा ज्ञातभगवन्माहात्म्यः । विभोः स्वामिनः कृष्णस्य भक्तिरूपं स्वस्मिंश्चानुभावं ज्ञात्वा नारदादिमुखतस्तन्निर्धारं च श्रुत्वा कृतार्थता जातेतिः प्रीतः सन् पूर्वकृतस्वापराधनिवृत्त्यर्थं तं भगवन्तं प्रति किंचित् अब्रवीदित्यर्थः ।।१।।

व्याख्यार्थ— अपने धर्म में विश्वास वाले, बड़े युधिष्ठिर ने भगवान् का अपने ऊपर किया हुआ उपकार सुन कर, भगवान् का माहात्मय जाना स्वामी श्रीकृष्ण का अपने ऊपर भक्ति रूप प्रभाव जानकर, एवं नारद के मुख से उनका निर्णय सुनकर अपनी कृतार्थता समझ गया, इससे प्रसन्न होकर, प्रथम किए हुए अपराध की निवृत्ति के लिए उन भगवान् के आगे कुछ कहने लगा ।।१।।

आभास—आदौ भगवन्माहात्म्यमाह **ये स्युरिति** ।

आभासार्थ—प्रथम 'ये स्यु' इस श्लोक से भगवान् का माहत्मय युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच—**ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकाः सहेश्वराः ।**
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ।।२।।

श्लोकार्थ—जो तीन लोक में गुरु हैं और जो ईश्वर सहित सकल लोक हैं, वे सर्व जिनकी आज्ञा को मस्तक पर धारण करते हैं ।।२।।

सुबोधिनी—**त्रैलोक्यगुरवः** त्रैलोक्ये उपदेष्टारः आज्ञापकाः ब्रह्मादयः वेदोक्तऋषयो वा । **सर्वे** च **लोकाः** प्राणिनो भूराद्यभिमानिदेवा वा । **सहेश्वरा** इन्द्रादिसहिताः । एवं वेदलोकपराः भगवतः **अनुशासनं** स्वस्या नधिकारित्वेन **दुर्लभं लब्ध्वा शिरसा वहन्ति** अत्यादरेण कुर्वन्तीत्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—तीन लोक में गुरु, अर्थात् उपदेश देने वाले एवं आज्ञा करने वाले ब्रह्मादि देव अथवा वेदोक्त ऋषि और सर्व प्राणी मात्र अथवा भू आदि के अभिमानी देवता लोग इन्द्र आदि समेत, इस प्रकार वेद और लोक के परायण ये सर्व अधिकारी न होने से दुर्लभ जो भगवदाज्ञा उसको प्राप्त कर उसका आदर सहित पालन करते हैं ।।२।।

आभास—किमतो यद्येवं तदाह **स भवानरविन्दाक्ष** इति ।

आभासार्थ—यदि यों होवे तो भी क्या ? इसके उत्तर में 'स भवानरविन्दाक्षो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।**
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ।।३।।

श्लोकार्थ—वे आप, कमल नयन पुरुषोत्तम, दीन होकर भी, अपने को ईश मानने वालों की आज्ञा का पालन करते हो, यह केवल अत्यन्त अनुकरण मात्र ही है ।।३।।

सुबोधिनी—**स** एव सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमो **भवान्** भक्तानुकम्पार्थं **अरविन्दाक्षः** दृष्ट्यैवाप्यायनकर्ता जातः । एतादृशः **दीनानां** शोच्यानां तत्रापि **ईशमानिनां** दोषयुक्तानां **अनुशासनं** स्वयं **धत्ते** । तत्कपटमानुषलीलाप्रदर्शनापेक्षयापि **अत्यन्तविडम्बनमनुकरणम्** ।।३।।

व्याख्यार्थ—वे ही सर्वेश्वर पुरुषोत्तम आप हैं भक्तों पर दया करने के लिये कमल नेत्र वत दृष्टि से ही भक्तों को आनन्द रस देकर तृप्त करते हैं । वैसे आप जो दीन अर्थात् शोक करने योग्य हैं, उनमें भी अपने को ईश मानने का दोष भरा पड़ा है ऐसों की आज्ञा का पालन करते हो ? यह कार्य तो कपट रूप मानुषी लीला प्रदर्शित करने से भी विशेष अनुकरण है ।।३।।

आभास—हीनानुशासनकरणस्य युक्तत्वं स्थापयित्वा अयुक्तं करोतीत्यप्ययुक्तमिति भूम्नोपि तद्युक्तमिति निरूपयति **न ह्यकस्येति** ।

आभासार्थ—हीनों की आज्ञानुसार आचरण करना अनुचित है यों सिद्ध कर भगवान् यों करते हैं वह भी अयोग्य है वैसे कहना भी अनुचित है इसलिए 'न ह्यकस्य' श्लोक में कहता है कि यों करना भूमा के लिए उचित ही है ।

श्लोक—**नह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।**
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ।।४।।

श्लोकार्थ—एक अद्वितीय, ब्रह्म परमात्मा का तेज कर्मों से कम वा विशेष नहीं होता है, जैसे सूर्य का तेज न कम होता है और न बढ़ता है ।।४।।

सुबोधिनी—यदि बहवो भवन्त्यात्मानः तदा गौणप्रधानभावे अन्यधर्माश्रयणं निषिद्धं भवति, एकत्वे तु जघन्यस्याप्यधमाङ्गस्य उत्तमाङ्गं सेवां करोतीति यथा पादप्रक्षालनं हस्तेन क्रियते तदा न विरोध इति भगवत एव जगत्येकस्य सत्त्वान्न विरौधः । युक्तिस्तु हिशब्दवाच्या निरूपिता । किंच यत्र द्वैतामिव भवति तत्रान्योन्यस्य हीनभावं मन्यते । अद्वितीयो भगवानेव सर्वत्र जगति वर्तत इति न भगवति किंचिद्दूषणमित्याह **अद्वितीय-स्येति** । किंच । जीवानामयं धर्मः यत्कार्यप्रेरणं कार्यकारणं चेति न तु ब्रह्मणः शुद्धस्य । लीलयान्यधर्मस्वीकारे तु क उत्कर्षापकर्ष इत्याह **ब्रह्मण** इति । किंच । सर्वेषां नियन्ता भगवान् परमात्मा प्रेरकः सर्वानेव यथासुखं सर्वत्रे प्रेरयति तत्र किमुत्कृष्टमपकृष्टं वा सर्वस्यापि भगवदधिष्ठितत्वाविशेषात् अन्यधर्मसंबन्धेऽपि न काचित् क्षतिः । यथा

आकाशे अभ्रतमःप्रकाशाः तद्वद्भगवतीत्याशयेनाह **परमात्मन** इति । अत एव **कर्मभिः** स्वकीयैः कर्म रूपस्य परमकाष्ठापन्नस्य निर्लेपस्य **तेजो** न वा **वर्धते** न वा ह्रसते अलौकिकत्वाद्दृष्टान्तमाह **यथा** रवेरिति । उच्चनीचस्थाने किरणानां संबन्धेऽपि न काचिन्न्यूनता सर्वग्रहसंबन्धे वा न क्वाप्युदयास्तमयौ ॥४॥

व्याख्यार्थ—जो आत्माएं बहुत हों तो गौण और मुख्य धर्मों के आश्रय का शास्त्रों में निषेध हो, एक होने पर तो हलके की सेवा महान् करे तो भी उसमें दोष वा विरोध नहीं है। जैसे शरीर एक होने से हस्त उच्च होते हुए भी अधम अंग पाद की प्रक्षालन (धोने) से सेवा करता है जिसमें न दोष है और न कोई शास्त्र विरोध है इस प्रकार जगत् में भगवान् के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, सब एक भगवान् ही है अतः यों करने में किसी प्रकार विरोध नहीं है 'हि' शब्द से युक्ति का निरूपण किया है पुनः यदि जहाँ द्वैत जैसा हो वहाँ एक दूसरे में हीन भाव उत्पन्न होता है, अद्वितीय भगवान् ही सब ठिकाने जगत् में विराजते हैं इसलिए भगवान् में कोई दूषण नहीं हैं, इस कारण से भगवान् के लिये 'अद्वितीयस्य' पद दिया है ।

कार्य करने की प्रेरणा करनी और कार्य कराना यह जीवों का धर्म है न कि शुद्ध ब्रह्म का, लीला से दूसरे के धर्म स्वीकार करने में कौनसा उत्कर्ष वा अपकर्ष है ? यह भाव श्रीकृष्ण को ब्रह्म कह कर प्रकट किया है ।

सर्व को नियम में रखने वाला भगवान् परमात्मा प्रेरक है अतः सबको ही जैसे सुख प्राप्त हो वैसे ही प्रेरणा करते हैं, उसमें उत्कृष्ट (उत्तम) अथवा अपकृष्ट (हीन) क्या है ? सब में भगवान् ही अधिष्ठित हैं, इसलिए अन्य धर्म का सम्बन्ध होते हुए भी किसी प्रकार हानि नहीं है ।

जैसे आकाश में बादलों के कारण अन्धकार और प्रकाश देखने में आता है वास्तव में आकाश में अन्धकार वा प्रकाश आदि धर्म नहीं हैं वैसे ही भगवान् में अनेक धर्म मात्र देखने में आते हैं इस आशय को प्रकट करने के लिये 'परमात्मा' कहा है इसलिए अपने कर्मों से कर्मरूप परम स्थिति को प्राप्त एवं निर्लेप परमात्मा का तेज न बढता है और न घटता है, अलौकिक होने से दृष्टाप्त देते हैं कि जैसे सूर्य का उच्च वा नीच स्थान में किरणों का सम्बन्ध होने पर भी सूर्य की हानि नहीं होती है और सूर्य की किरणों का सर्व ग्रहों से सम्बन्ध हो जाने पर भी उसका उदय अथवा अस्त नहीं होता है ॥४॥

आभास—नन्वेवं सति कथं भगवान् सर्वेश्वरत्वमेव मन्यते न हीनभावं तथा सति जीवानामपकर्षबुद्ध्या नाशो भविष्यतीति चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि तथेत्याशङ्क्यायामाह **न वै तेऽजित** इति ।

आभासार्थ—यदि यों है, तो भगवान् अपने को केवल सर्वेश्वर ही क्यों मानते हैं ? हीन भाव वाले क्यों नहीं मानते हैं ? यदि यों करें तो जीवों की भगवान् में हीन भावना होने से उनका नाश होगा यदि यों कहो तो चालू प्रसंग में भी वैसा होगा इस शंका के होने पर उसको मिटाने के लिए 'न वै तेऽजित' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—न वै तेऽजितभक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥५॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! हे माधवः ! मेरा और मैं, तू और तेरी ऐसी पशु समान विकार वाली भेद बुद्धि आपके भक्तों की नहीं होती हैं ॥५॥

सुबोधिनी—हे **अजित** कस्याप्यवश । **ते भक्तानां ममाहमिति** स्वाभिमानः कदाचिदपि स्वोत्कर्षख्यापको न भवति, उत्कर्षस्तु जीवानां पाञ्चभौतिकदेहयुक्तानां लक्ष्मीकृत एव भवति तस्यास्तु त्वमेव **धवः** । अतस्त्वयि को वाभिमानो भविष्यतीति भावः । किंच त्वद्भक्तानां न कस्मिंश्चिदपि त्रिविधाद्वैतयुक्तानाम् । द्रव्यादिभेदार्थं **त्वं तवेति च** बुद्धिर्न भवति । 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति शास्त्रार्थानुसारेण त्वद्रूपा एव भवन्तीति तेषां सर्वात्मकता नित्यं स्फुरतीति **न नानाधीर्भेद**-बुद्धिर्भवति । ननु सर्वेषामेव बुद्धिरयुक्ता को विशेषो भक्तानामिति चेत् तत्राऽह **पशूनामिवेति** । अयुक्तापि बहिर्मुखानां भवतीति नानाबुद्धेर्भगवद्विषयत्वे न कोऽपि विशेष इत्याशङ्क्याह **वैकृ**-**तेति** । विकारविषयिणी सा, न हि वस्तुतो नानात्वमिति भावः ॥५॥

व्याख्यार्थ—हे अजित ! अर्थात् किसी ने भी आपको जीत कर वश में नहीं किया है, आपके भक्तों को मेरा और मैं इस प्रकार का स्वाभिमान, कभी भी अपने उत्कर्ष को दिखाने वाला नहीं होता है, पांच भौतिक देह वाले जीवों की बड़ाई तों लक्ष्मी की, की हुई होती है, उस लक्ष्मी के स्वामी तो आप हैं, जिससे आप में अभिमान किसका होगा कहने का यही भाव है ।

आपके भक्तों में तीन प्रकार[1] का अद्वैत स्थिर रहता है जिससे उनको किसी पदार्थ में भेद के लिए स्वत्व वा परत्व बुद्धि अथवा तू और तेरा इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है, गीता में कहे हुए 'यो यच्छ्रद्धः स एवस' इस वाक्यानुसार जो जिसमें श्रद्धा वाला होता है वह वैसा ही हो जाता है अतः आपके भक्त आपके ही रूप हो जाते हैं जिससे उनको सदैव सर्वात्म भाव का स्फूरण होता रहता है न कि अनेकता वाली भेद बुद्धि जागृत होती है ।

सकल जीवों की बुद्धि दोष युक्त है, भक्तों में क्या विशेषता है ? जिसका उत्तर देते हैं कि अन्य जीवों की बुद्धि पशुओं के समान विकार वाली होने से भगवद्विमुख होती है वास्तव में नानापन (प्रकारपन) है ही नहीं ॥५॥

आभास—एवं स्वपराधं भगवतः सर्वात्मकत्वादिधर्मेणानुसंधानतः परिहृत्य निष्प्रत्यूहः सन् अभिप्रेतं राजसूयमारब्धवानित्याह **इत्युक्त्वेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के सर्वात्मपन धर्म के अनुसन्धान से अपना अपराध मिटा कर, निर्विघ्न होके, अपने अभीष्ट राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं ।

१—भावाद्वैत २—क्रियाद्वैत, और ३—द्रव्याद्वैत

श्लोक—श्री शुक उवाच—**इत्युक्त्वा याज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।**
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि, युधिष्ठिर ने यों कहकर यज्ञ करने के काल में श्रीकृष्ण का अनुमोदन प्राप्त कर ब्रह्मवादी ब्राह्मणों का ऋत्विज रूप से वरण किया ॥६॥

सुबोधिनी—कालस्य प्राधान्यात् **याज्ञिये काल** इत्युक्तम । राजसूयस्यापि द्वादशाहप्रकृतित्वात् माघे मास्येवारम्भः सांवत्सरिकाणामपि स एव कालः । **युक्तान् ऋत्विजः** परंपरया प्राप्तान् अनिषिद्धान्वा प्रायेण सर्वानेव स्थविरान् विद्यातपोवृद्धान् अध्वर्यवादिभावेन **वव्रे** । विघ्नशङ्कां वारयति । **कृष्णानुमोदित** इति । **पार्थ** इति भगवतः साहाय्यं निश्चितं सूचितम् । **ब्राह्मणानिति** ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यं सर्वक्रतुष्विति विद्यातपोवृद्धक्षत्रियव्युदासः । **ब्रह्मवादिन** इति ब्राह्मणानामयमुत्कर्षः ॥६॥

व्याख्यार्थ—काल की प्रधानता है इसलिए कहा है, जिस समय यज्ञ करना चाहिए वह काल जब हुआ तब उस समय में यज्ञ प्रारम्भ किया, राजसूय यज्ञ १२ दिन में होता हैं, उसका काल माघ मास है अतः माघ मास में ही प्रारम्भ किया, एक वर्ष में जो यज्ञ पूर्ण होते हैं उनके प्रारम्भ का भी यही समय है, योग्य ऋत्विजों का वरण किया, वे कैसे योग्य थे उनका विश्लेषण करते हैं कि ये परम्परा से यज्ञ कर्म कराते आये हैं, उनमें ऐसा कोई दोष नहीं है जिससे वे यज्ञ में ऋत्विज न बन सकें और वृद्ध तथा विद्या और तप से समृद्ध थे । यज्ञ में विघ्न भी नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्ण ने यज्ञ प्रारम्भ करने का अनुमोदन किया है । 'पार्थ' कहने से यह सूचित किया है कि भगवान् की पूर्णरूपेण निश्चित सहायता प्राप्त है 'ब्राह्मणान्' पद देकर यह बताया है कि सर्व यज्ञों में ब्राह्मण ही ऋत्वज हो सकते हैं ॥ चाहे क्षत्रिय विद्या और तपस्या से बड़े ही, तो भी यज्ञों में ऋत्वज नहीं हो सकते हैं, 'ब्रह्मवादी' पद से यज्ञ में बैठे हुए ऋत्विजों का उत्कर्ष बताया है ॥६॥

आभास—तान् गणयति **द्वैपायन** इत्यादिना ।

आभासार्थ—'द्वैपायन' श्लोक से तीन श्लोकों से, उन ब्राह्मणों के नाम कहते हैं—

श्लोक—**द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।**
वसिष्ठश्चयवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलःपराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीर सेनोऽकृतव्रणः ॥९॥

श्लोकार्थ १ द्वैपायन, २ भरद्वाजः, ३ सुमन्तु, ४ गौतम, ५ असित, ६ वसिष्ठ, ७ च्यवन, ८ कण्व, ९ मैत्रेय, १० कवष, ११ त्रित ॥७॥

१२ विश्वामित्र, १३ वामदेव, १४ सुमति, १५ जैमिनी, १६ क्रतु, १७ पेल, १८ पराशर, १९ गर्ग और २० वैशम्पायन ॥८॥

२१ अथर्वा, २२ कश्यप, २३ धौम्य, २४ राम, २५ भार्गव, २६ आसुरि, २७ वीति होत्र, २८ मधुच्छन्दा, २९ वीरसेन, ३० अकृतव्रण ॥९॥

सुबोधिनी—त्रिंशदृषयोऽत्र गणिताः **अकृतव्रणान्ताः** । यद्यप्यत्र बहवो ब्राह्मणा मृग्यन्ते तथापि उत्तमा एतावन्त एवेति । सप्तदश ऋत्विजः, दश चमसिनः, एकधनिनस्त्रय इति दश दश उत्कर्षादिभावापन्ना वा उपलक्षणविधया गणिताः । एकादश प्रथमश्लोकोक्ताः ब्राह्मणा एव ब्रह्मविदः, विश्वामित्रादयो नव मध्यमा, अथर्वादयो दश नव वा । **रामो भार्गव** एक इति । एते सर्वे महोपाख्यानाः ॥७॥८॥९॥

व्याख्यार्थ—इस यज्ञ में द्वैपायन से अकृत व्रण तक तीस ऋषि ही गिने हैं । जब कि यहां बहुत ब्राह्मणों की आवश्यकता है किन्तु उत्तम इतने ही मिले हैं जिनके नाम कहे है, उनमें से सत्रह ऋत्विज हैं । दश चमस[1] रखने वाले हैं और तीन 'एकधन'[2] वाले हैं । इस प्रकार उत्कर्ष आदि भाव को प्राप्त, दश, दश अन्य भी उपलक्षण विधि से अपने समान कहे हैं प्रथम (७) श्लोक में कहे हुए एकादश (११) ब्राह्मण ही ब्रह्मवेता थे । विश्वामित्र से लेकर नव ब्राह्मण मध्यम थे, अथर्व से लेकर अकृतव्रण तक नव वा दश सामान्य थे, राम और भार्गव को एक गिना जाय तो नव होते हैं, पृथक् गिनने से दश होते ये सब महान् उपाख्यान वाले हैं ॥७-८-९॥

आभास—अन्येऽपि राजानः ब्राह्मणाश्च समाहूता इत्याहुः **उपहूतास्था चान्ये** इति ।

आभासार्थ—केवल इतने का ही यज्ञ में आव्हान नहीं किया था किन्तु दूसरे राजाओं तथा ब्राह्मणों को भी बुलाया था वह 'उपहूत' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**उपहूतास्था चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।**
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वैसे ही दूसरे द्रोण, भीष्म, कृप आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र और महान् बुद्धिमान विदुरजी को भी आमन्त्रण देकर बुलाया था ॥१०॥

१—यज्ञ में सोमपान करने के 'चमच' को चमस कहते हैं ।
२—यज्ञ में जलभर रखने का जो कलश होता है उसको 'एकधन' कहते है ।

सुबोधिनी—भीष्मादयो बन्धुश्रेष्ठाः, द्रोणादयो गुरवः, कृपादयोऽपि मान्याः। सर्वमैत्री कृतेति ज्ञापनार्थं धृतराष्ट्रादीनामाकारणमाह धृतराष्ट्रः सहसुत इति दुर्योधनादिसहितः। विदुरश्चापि शूद्रयोनिरपि महामतिरिति बीजप्राधान्येन स्मार्तज्ञानपूर्णत्वात्समाकारणमुचितम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—बान्धवों में श्रेष्ठ भीष्म आदि द्रोण आदि गुरु, कृप आदि माननीयों को भी आव्हान किया था तथा सबसे मित्रता की है यह जताने के लिये धृतराष्ट्र आदि को भी आमन्त्रित किया है दुर्योधन आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र को आमन्त्रण भेजा है चूंकि विदुर शुद्र योनि है तो भी महान् बुद्धिमान है कारण कि बीज का ही प्राधान्य होने से स्मार्त ज्ञान पूर्ण होने से उसका आव्हान करना उचित ही है ॥१०॥

आभास—किं बहुना चत्वारो वर्णा जगति विद्यमानाः समाहूता इत्याह ब्राह्मणा इति ।

आभासार्थ—बहुत कहने से क्या ? जगत् में चार वर्ण हैं अतः चारों वर्णों को बुलाया है यह 'ब्राह्मण' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।**
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥११॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तथा अपनी स्त्रियों समेत सब राजा यज्ञ के दर्शन की इच्छा से वहां आए ॥११॥

सुबोधिनी—यज्ञदिदृक्षायुक्ताः श्रद्धया अत्राधिकारो निरूपितः। न केवलमाकारणमात्रं किंतु सर्वे समागता इत्याह तत्रेयुरिति। अन्येषां स्त्रियः समायास्यन्त्येव। राज्ञां नायास्यन्तीति तासां राज्ञां प्रकृतय इति। नृपेति संबोधनं सादरम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहां जो भी आए उनको यज्ञ के दर्शन की लालसा थी इस श्रद्धा के कारण वे सब अधिकारी हैं यह बताया है, केवल आव्हान वाले ही नहीं आए किन्तु अन्य सर्व भी श्रद्धा से आए, दूसरों की स्त्रियाँ तो आएँगी किन्तु राजाओं की नहीं आएँगी इसलिए कहा है कि उनकी स्त्रियाँ भी आई हैं, नृप ! यह संबोधन आदर सूचक है ॥१२॥

श्लोक—**ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।**
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयांचक्रिरे नृपम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् ब्राह्मणों ने यज्ञ भूमि को सुवर्ण के हल से शुद्ध कर, वहाँ वैदिक रीति से राजा को यज्ञ में दीक्षित किया ॥१२॥

सुबोधिनी—राजसूयः साग्निचित्यो भवतीति 'इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत्' इत्युपाख्यानेन कर्षणं विहितम्। ततो देवयजनं देवा इज्यन्ते अस्मिन् स्थान इति तत्स्थानम्। ब्राह्मणाः स्वयं स्वर्णलाङ्गलैः षड्भिर्वैर्द्वादशगवैर्वा कृष्ट्वा उप्त्वा च तत्रैव यथाम्नायं आम्नातानुसारेण दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षां चक्रुरित्यर्थः। अभ्युत्सादयामित्यादिवत् अस्यापि 'आम्' प्रत्ययश्छान्दसः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ की इच्छा अग्नि वाला ही कर सकता है यह भूमि अग्नि के विशेष दाह होने से भयभीत हुई, अतः वहां कहा है कि भूमि को जोत कर शुद्ध करना अनन्तर यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये जहाँ देवों का पूजन किया जावे, इसलिए ही ब्राह्मणों ने सोने के हल में छ अथवा द्वादश बैलों से भूमि को जोतकर शुद्ध किया और उसमें बीजों को बोया, वहाँ ही वेदानुसार राजा को दीक्षा दी 'दीक्षयाञ्च क्रिरे' इस पद में 'आम्' प्रत्यय वैदिक है ॥२२॥

आभास—यज्ञे पदार्थसमृद्धिमाह हैमा इति ।

आभासार्थ—नीचे के तीन श्लोकों में यज्ञ की समृद्धि आदि बताते हैं ।

श्लोक—**हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।**
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिशिवसंयुताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—पूर्व, जैसे वरुण के यज्ञ में सब उपकरण (पात्रादि सामान) सोने के थे वैसे ही यहां भी थे, ब्रह्मा और शिव सहित इन्द्र आदि लोकपाल भी बुलाये गये थे । ॥१३॥

सुबोधिनी—किलेति, लोकोक्त प्रमाणम्। वरुणो निधिपतिरिति सोऽत्र दृष्टान्तीक्रियते। पुरेति तस्यापीदानीं दुर्लभ इति सर्वोत्कर्षः। देवादयो लोकपालाः द्वीपान्तरस्था राजानश्च नागता भविष्यन्तीति तेषामाकारणमागमनं चाह इन्द्रादय इति। विरिञ्चिशिवाभ्यां संयुताः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किल पद का आशय है कि, यहां सर्व सामग्री निश्चय से वरुण के यज्ञ जैसी सोने की थी जिसमें प्रमाण लोक ही है, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखी थी, वरुण का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि वह निधि का स्वामी है, किन्तु 'पुरा' पद कह कर यह भाव प्रकट किया हैं कि उसको (वरुण को) भी अब ऐसी सामग्री मिलनी दुर्लभ है, इसलिए युधिष्ठिर के यज्ञ का सबसे उत्कर्ष है, अन्य तो आए होंगे किन्तु इन्द्र आदि लोकपाल और अन्य द्वीपों में रहने वाले राजा लोग आदि तो नहीं आए होंगे ? इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव समेत उनको भी निमन्त्रित किया गया है ॥१३॥

श्लोक—**सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।**
मुनयो यक्षरक्षांसि खगाः किन्नरचारणाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—गणों के साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, बड़े सर्प, मुनिगण, यक्ष तथा राक्षस, पक्षी किन्नर एवं चारण भी बुलाए हैं। ॥१४॥

सुबोधिनी—**सगणाः** सेवकसहिताः आदित्य-विश्वादयो वा गणदेवाः **सिद्धगन्धर्वादयश्च**। **मुनयोऽधिकारिणः** सप्तर्षिरूपाः। **यक्षरक्षांसि** कुबेरपुलस्तिविभीषणादयः। **खगा** गरुडादयः। **किन्नराश्चारणाश्च** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'सगणा' पद का अर्थ सेवकों सहित देवगण अथवा आदित्य विश्वादि गणदेव और सिद्ध, गन्धर्व आदि, अधिकारी सप्तर्षिरूप मुनि, यक्ष राक्षस कह कर यह बताया है कि, कुबेर पुलस्ति एवं विभीषण आदि पक्षियों से गरुड़ आदि पक्षी कहे हैं, किन्नर और चारण भी आमन्त्रित किये थे ॥१४॥

श्लोक—**राजनश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः।**
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥

श्लोकार्थ—रानियों सहित राजाओं को भी बुलाया गया था, इस प्रकार आमन्त्रित सब पाण्डु के पुत्र राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आए थे ॥१५॥

सुबोधिनी—ततो द्वीपान्तरस्था **राजानश्च समाहूताः** चकारादब्राह्मणा वैश्यादयश्च। **राजपत्न्यश्च सर्वश** इति। अगम्यस्थानेभ्योपि यतो **राजसूयं समीयुः**। स्मेति प्रमाणम्। **राज्ञः पाण्डुसुतस्येति**। महता क्रियत इति तत्रागमनं न लज्जाये ॥१५॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर अन्य द्वीपों में रहने वाले राजाओं को बुलाया था 'च' पद से ब्राह्मण और वैश्यों का भी आव्हान किया था, न केवल राजाओं को, किन्तु जितनी भी राज महिषियाँ थीं उनको भी बुलाया था। जिस स्थान का मार्ग आने जाने में कठिन था वहाँ से भी राजसूय यज्ञ में आ गए। 'स्म' यह पद प्रमाण रूप में दिया है। राजा युधिष्ठिर पाण्डु के पुत्र थे इसलिए वे महान् हैं वे यज्ञ कर रहे हैं वहाँ चलने में किसी प्रकार की लज्जा नहीं है ॥१५॥

आभास—ननु सर्वेषां निःशङ्कमागमने को हेतुरित्याशङ्क्य तमाह **मेनिरे कृष्णभक्तस्येति**।

आभासार्थ—सब बिना शंशय के आ गए जिसका क्या कारण था? इस पर 'मेनिरे' श्लोक में कहते हैं कि वह कृष्ण भक्त हैं इसलिए निःसंशय आने लगे थे।

श्लोक—**मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः।**
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः।
राजसूयेन विधिमत् प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥

श्लोकार्थ—उन्होंने यों माना कि महाराजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्र का भक्त है,

इसलिए इसका यह यज्ञ निर्विघ्न सरलता से हो जायगा, अतः इनको किसी प्रकार विस्मय न हुवा। जिस प्रकार देवों ने वरुण को यज्ञ कराया था उसी प्रकार देवों जैसे तेजस्वी ब्राह्मणो ने विधि अनुसार यह यज्ञ युधिष्ठिर द्वारा ही करवाया ॥१६॥

सुबोधिनी—अन्यस्य देशादिशुद्धिर्न भवतीति **सूपपन्नत्वम्**। अत एवातिसमृद्धिमपि। दृष्ट्वा **अविस्मिताः**। ततो **याजका** ऋत्विजः **राजसूयेन मदाराजमयाजयन्**। **देववर्चसः** इति तेषां यज्ञाभिव्यक्तिसामर्थ्यं सूचितम्। **विधिवदिति** नानुकल्पः कस्मिन्नप्यंशे। पूर्ववदेव दृष्टान्तः **प्राचेतसमिवामरा इति** ॥१६॥

व्याख्यार्थ—दूसरों को यज्ञ करने के लिये देश आदि की शुद्धि चाहिए वह उनके लिए कठिन है किन्तु युधिष्ठिर को तो इस शुद्धि के लिए किसी प्रकार श्रम नहीं हुआ, इस कारण विशेष समृद्धि देख कर किसी को अचम्भा न हुआ, पश्चात् यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों ने महाराज युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ कराया, ऋत्विजों को 'देववर्चसः' विशेषण देकर यह बताया है कि इनमें यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करने का सामर्थ्य है 'विधिवत्' विधि के अनुसार, कहने का यह आशय है कि इस यज्ञ में वही वस्तु लाई गई थी जो शास्त्र में लिखी थी, उसके बदले में अन्य वस्तु लाकर कार्य नहीं चलाया था, पूर्व की तरह ही यहाँ भी दृष्टान्त वरुण का दिया गया है जैसे देवों ने वरुण को यज्ञ कराया वैसे देव जैसे तेजस्वी ऋत्विजों ने महाराजा युधिष्ठिर को कराया है ॥१६॥

श्लोक—**सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन्।**
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥

श्लोकार्थ—यज्ञ में जिस दिन सोम निकाला जाता है वह मुख्य दिन होता है अतः उस दिन राजा ने सावधान हो, यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों का तथा अन्य आए हुए ब्राह्मणों का दक्षिणा आदि से पूजनादि सत्कार किया ॥१७॥

सुबोधिनी—ततो मुख्ये **सुत्येऽहनि** 'माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति 'यावन्तो वै सदस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः' इति च दक्षिणादानप्रस्तावे सुत्येऽहनि राजा **याजकान्** ऋत्विजः, **सदसस्पतीन्** सभ्यान्, अन्यानपि **महाभागान् अपूजयत्**। **यथावदात्रेयादिपूजाप्रकारेण**। **सुसमाहित** इति क्रोधलोभादिरहितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—सोम निकालने के मुख्य दिन में जब दक्षिणा देने का समय आया, तब महाराजा ने यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की, सभासदों की और अन्य भी वहाँ जो भाग्यवान् थे उन सब की जैसे आत्रेय पूजा की विधि कही है वैसे ही क्रोध, लोभ आदि त्याग कर पूजा की, इस प्रकार महाराजा ने जो पूजा की वह [1]'माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति [2]'यावन्तो वै सजस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः' इस शास्त्र के वचनानुसार किया।

१—मध्यान्ह समय में सोम निकालने के समय ऋत्विज दक्षिणा लेकर जाते हैं।
२—जितने सभासद हो वे सब दक्षिणा देने के योग्य हैं।

आभास—अत्राधिदैविकपूजार्थं मुख्योऽयमेव याग इति विचार आरभ्यते । **सदस्ये-**त्यादि ऋत्विग्भ्य इत्यन्तेन ।

आभासार्थ—आधिदैविक की पूजा ही मुख्य यज्ञ है इसलिए अब 'सदस्याग्र्यार्हणार्हं' १८ श्लोक से 'ऋत्विग्भ्य' ४७ श्लोक तक के श्लोकों में यही विचार किया जाता है कि कौन पूजा करने के योग्य है जिससे आधिदैविक यज्ञ की सिद्धि हो सके ।

श्लोक—**सदस्याग्र्यार्हणार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।**
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस सभासदों में से कौन अग्र पूजा के योग्य हैं ? यह निर्णय करने के लिए सभासद विचार करने लगे, किन्तु इसका अन्तिम निर्णय जब न कर सके तब सहदेव कहने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—**सदस्याग्र्यार्हा** बहुदक्षिणे यागे सुप्रसिद्धाः । यथा याज्ञवल्क्याय गोसहस्ररूपा दत्ता । ब्राह्मणेषु ब्रह्मविदेव तदर्हतीति । यद्यत्र परब्रह्म न भवति मूर्तिं धृत्वा तत्र जीवानां मध्ये तदभिज्ञोऽपि महान् भवति यत्र पुनर्भगवानेवा-विलुप्तमहिमा मूर्तीः परिगृह्य तिष्ठति तत्र किं पूर्वन्यायेन अनुकल्प एव कर्तव्यः आहोस्विद्भगवते देयमिति अनुकल्पेनापि समारम्भे तेनैव समाप्तिः कर्तव्येति । सर्वयागेषु ऋषिभिरनुकल्प एव समा-रब्धः तस्मादत्रापि ब्रह्मविदां मध्ये केनाप्यतिश-येन यो महान् भवति स एव पूजामर्हतीति केचित् । तथा सति व्यासो वसिष्ठो वा भवति यज्ञानां सर्वत्र संस्थितेः उक्तत्वात् । प्रक्रियान्तरे मुख्ये संभ-वति गौणकल्पनाया अन्याय्यत्वात् भगवानेवार्ह-तीत्यन्ये । एवमपि व्यासस्योभयरूपत्वात् कुल-वृद्धत्वात् पितामहत्वाच्च स एवार्हतीत्यपरे । सर्व-धर्माभिज्ञः भीष्मस्ततोऽपि ज्येष्ठ इति स एवार्ह-तीति केचित् । तस्यापि गुरुः परशुराम इत्यन्ये । सर्वत्र च नानाविधा युक्तयः प्रसरन्ति तत्र साधको हेतुः कोऽप्यव्यभिचारी नास्ति । ब्रह्मवित्त्वं भग-वत्त्वं मान्यत्वं श्रेष्ठत्वमन्यद्वा साक्षात्परब्रह्मत्वं सर्वकलापूर्णत्वं सच्चिदानन्दविग्रहत्वं कृष्णस्य भगवतः कश्चिदेव जानाति । अतोंऽशत्वमेव साधारणमिति न सर्वेषां प्रथमतः संमतिः । ततः श्रेष्ठत्वं **विमृशन्तः** सर्व एव **सभासदः** कमपि सर्वोत्कृष्टं **नाध्यगच्छन्** । तत्र हेतुः हेतोरनैकान्त्या-दिति । तत्र **सहदेवः** साक्षात्पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्व-दोषरहितं हेतुं मन्यमानः कृष्णे भगवति तत्सा-धयितु**मब्रवीत्** । स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञो द्वादशवार्षिकमेष्यं जानाति तथाप्यपृष्टो न वदति । अत्र तु जिज्ञासायां सर्व एव पृष्टा भवन्तीति भग-वत्प्रेरणया **अब्रवीत्** ॥१८॥

व्याख्यार्थ—बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ में, सभासदों में अग्र पूजा के योग्य अनेक प्रसिद्ध हैं, जैसे कि ब्राह्मणों में उत्तम वह है, जो ब्रह्म को पहचानता है, इसलिए ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य को जनक के यज्ञ में एक सहस्र गौ दक्षिणा में दी गई थी । ब्राह्मणों में वही पूजन के योग्य होता है, जो ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला हो, यों है, यदि यहाँ स्वरूप को धारण कर प्रकट परब्रह्म विद्यमान (मौजूद) न हो तो वैसी स्थिति में, जीवों के बीच में से उस परब्रह्म को जानने वाला महान् माना जाता है जहां फिर जिनकी महिमा प्रकट ही हैं वैसे भगवान् स्वरूप धारण कर

विराजते हैं वहां पूर्व न्याय के अनुसार क्या 'अनुकल्प ही किया जाय ? अथवा भगवान् की अग्र पूजा की जाय ? यदि अनुकल्प से ही प्रारम्भ किया है तो अनुकल्प से ही समाप्ति करनी चाहिए ।

इस विषय पर सभासदों के विचार पृथक् थे जिससे निर्णय न हो सका ।

१- मत यह था कि प्रायः यज्ञों में ऋषिगण जब अनुकल्प से ही कार्य पूर्ण करते हैं, तब यहाँ भी ब्रह्मज्ञों में जो किसी प्रकार श्रेष्ठ हो उसकी अनुकल्प विधि अनुसार पूजा कर लेनी चाहिए, इसलिए व्यास और वसिष्ठ ही पूजा योग्य हैं क्योंकि यज्ञों में सर्वत्र ये स्थित (मौजूद) रहते हैं ।

२- दूसरों का मत था कि जब मुख्य वस्तु विद्यमान हो तब अनुकल्प से कार्य पूर्ण करना अन्याय है अतः भगवान् ही पूजा के योग्य हैं ।

३- तीसरों का मत था कि व्यासजी में दोनों प्रकार मुख्यता है भगवान् का ज्ञानावतार होने से ब्रह्म भी हैं और ब्रह्मज्ञ भी हैं तथा कुलवृद्ध एवं पितामह होने से यह ही पूजा योग्य हैं ।

४- चौथों का मत था कि सर्व धर्म को जानने वाले भीष्म उससे भी बड़े है अतः वह ही पूजा के योग्य हैं ।

५- पांचवों का मत था कि भीष्म के भी गुरु परसुराम हैं उनका पूजन होना चाहिए ।

इस प्रकार सर्वत्र अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती हैं । वहाँ विषय की पूर्ण रीति से सिद्ध करने वाला अव्यभिचारी हेतु कोई नहीं है । ब्रह्मज्ञता, भगवत्व, मान्यत्व, श्रेष्ठत्व अथवा अन्य गुण और साक्षात्-परब्रह्मत्व, सर्व कलाओं से पूर्णता सच्चिदानन्द विग्रहपन भगवान् कृष्ण के इत्यादि गुण कोई ही जानता हैं, अतः अंशपन सबमें समान होने से किसी की भी, पहले श्रीकृष्ण के पूजन में सम्मति न हुई । सर्व सभासद विचार विमर्श करते हुए किसी को भी सर्वोत्कृष्ट (सब से उत्तम) न जान सके, उसमें कारण यह था कि उनको कोई हेतु निर्णय कारक नहीं मिला ।

वहाँ भगवान् कृष्ण में ही साक्षात् पूर्ण परब्रह्मपन एवं सर्वदोष रहितपन पूजा का हेतु है यों मानने वाला सहदेव उस हेतु को सिद्ध करने के लिये बोलने लगा, कारण कि वह ज्ञानकला-वतार एवं सर्वज्ञ था, उसकी आयु १२ वर्ष की ही थी, यों होते हुए भी बिना पूछने के बोलने की इच्छा नहीं थी, इस विषय पर जिज्ञासा के कारण, सर्व ही पूछे हुए समझने चाहिये, तो भी भगवान् की प्रेरणा से कहने लगा ॥१८॥

आभास—आदौ साध्यं निर्दिशति **अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्य**मिति ।

आभासार्थ—पहिले जिसको सिद्ध करना है वह विषय हेतु देकर 'अर्हति' श्लोक में सिद्ध करता है ।

१—अनुकल्प का तात्पर्य है कि यदि मुख्य वस्तु न मिले तो उसके बदले में जिसमें वैसे स्वल्प भी गुण हो उस वस्तु से कार्य किया जाय ।

श्लोकार्थ—अर्हति ह्यच्युतः श्रेष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१९॥

श्लोकार्थ—सहदेव ने कहा कि वैष्णवों के पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अग्र पूजा के योग्य हैं क्योंकि देवता, देश, काल और धन आदि सर्व ये ही हैं और अच्युत हैं ॥१९॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुर्भगवानिति । भगवत्त्वं व्यासादिष्वप्यस्तीत्याशङ्क्याह **सात्वतां पतिरिति** । अन्ये हि कार्यार्थं भगवदंशपुरुषनिर्मितप्रपञ्चैकदेशार्थसिद्धचर्थं केनचिदंशेनावतीर्णाः कृष्णस्तु वैष्णवानां पतिरिति कालगृहे समागतान् कालं वञ्चयित्वानेतुमागत इति मर्यादारक्षार्थं पतित्वात् समागतः । अतो भगवदिच्छयैव कालसंबन्धिनो न तं जानन्ति । तस्मादयमव्यभिचारी हेतुः पूर्णभगवत्त्वमिति । ननु तथापि प्रकरणानुरोधेन पदार्थनिर्णयः कर्तव्यः प्रकरणमत्र देवानां प्रीतिः 'यक्ष्ये विभूतीः' इतिवाक्यात् न हि यत् सेवकेभ्यो देयं तत् स्वामिने दातुं शक्यते । लोकाः स्वामिदर्शनेऽपि न सेवकेभ्यः प्रयच्छन्तीत्याशङ्क्याह **एष वै देवताः सर्वा** इति । यदि सर्वे देवाः प्रीणनीयाः तदा स्थानापेक्षया स्वरूपमुत्तममिति 'यावतीर्वै देवताः' यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना' इति वाक्यानुरोधं परित्यज्य साक्षात्सर्वदेवतारूपं भगवन्तमेव पूजयन्त्वित्यर्थः । वै निश्चयेनेति उपचारव्यावृत्तिरुक्ता । यथा 'अग्निः सर्वा देवताः' 'आपो वै सर्वा देवताः' इति तत्र तत्रोपाख्याने सर्वदेवत्वं तेषां गौणभावत्वेन निरूपितम् । यथा 'देवासुराः संयत्ताः आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्नि प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता' इति तथाग्निरपि अपः प्राविशत् । 'स निलायत सोऽपः प्राविशत्' इति । एवं केनचिन्निमित्तेनैव सर्वेषां सर्वदेवतारूपत्वं गौणमेव स्वभावत एव भगवान् सर्वदेवतारूपः 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' इति पक्षे त एव देवा अत्र पूज्याः 'इन्द्रादयो बाहवः' इत्यादिवाक्याद्वा अधिदैविका एव यज्ञभाज इति । ननु तथापि योग्यं कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चित्काले तत्र प्रवर्तमानस्य यागस्य ऋषीणां तदधीनत्वात् तद्देशतत्कालाभिमानिनी देवतैव प्रकरणवशात् पूजा **महतित्याशङ्क्याह देशकालेति** । ननु तथापि योग्यं योग्येन संबध्यत इति प्राकृता धनादयः पदार्थाः कथं साक्षाद्भगवते दातुं शक्याः । लोकेपि विप्राय गुरवे स्वामिने नहि शूद्रः स्वकन्यां प्रयच्छति किंतु शूद्रायैवाधमायापि दातुं वाञ्छतीत्याशङ्क्याह **धनादय** इति । **आदिशब्देन** वस्त्राभरणानि गवादयश्चोच्यन्ते ॥१९॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की पूजा में कारण देता है कि वे 'भगवान्' हैं यदि कोई कहे कि भगवान्पन तो व्यासादि में भी है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि वैष्णवों के पति हैं व्यासादि वैष्णवों के पति नहीं है, दूसरे जिनमें भगवत्पन हैं वे कार्य के लिये भगवान् के अंश पुरुष के रचे हुए प्रपञ्च में किसी एक देश के कार्य को सिद्ध करने के लिए किसी अंश से अवतार लिए हुए हैं, श्रीकृष्ण तो वैष्णवों के पति हैं अतः जो जीव इस कालगृह संसार में आए हैं उनको लेने के लिए आए हैं । काल की भी वञ्चना कर कालगृह से निकाल ले जायेंगे, क्योंकि आप पति हैं अतः पतिपन की मर्यादा रखने के लिये स्वयं पधारे हैं, काल से जिनका सम्बन्ध है वे भगवान् की इच्छा से उनको नहीं पहचान सकते हैं । इसी कारण से ही श्रीकृष्ण का पूर्ण भगवत्व ही पूजा के लिए अव्यभिचारी कारण है ।

यों हो, तो भी प्रकरणानुसार ही विषय का निर्णय करना चाहिए यहाँ प्रकरण है, देवों की प्रीति अर्थात् देवों को प्रसन्न करना, क्योंकि पहिले ही महाराजा ने कहा है कि 'यक्ष्ये विभूतीः' आपकी विभूतियों का पूजन करूंगा, जो वस्तु सेवकों को देनी है, वह स्वामी को नहीं दी जाती है । यदि कहो कि लोग स्वामी के दर्शन (मौजुद) होते हुए भी सेवकों को देते हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'एष वै देवताः सर्वा' यह निश्चय सर्व देव रूप हैं, यदि सकल देवों को प्रसन्न करने की इच्छा होवे तो देवताओं के वास के स्थान से देवताओं का स्वरूप उत्तम है अतः जितने देवता हैं वे ब्रह्म जानने वाले ब्राह्मण में रहते हैं, जिनकी भगवान् में निष्प्रोयजन-भक्ति है उनमें सर्व देव रहते हैं । इन वाक्यों में आदर त्याग कर साक्षात् सर्वदेव स्वरूप भगवान् की ही पूजा करिए ।

'अग्नि सर्वदेव रूप है' 'जल सर्वदेव रूप है' ऐसा जो उपाख्यानों में इनको सर्वदेव रूप कहा है वह गौणता से कहा है, इसलिए इस प्रकार का उपचार नहीं हुआ है, यह जताने के लिए 'एष वै देवताः सर्वा' इस मन्त्र में 'वै' निश्चयवाचक पद दिया है । जैसा कि कहा है-देव असुरों के युद्ध में, देवता डर कर अग्नि में प्रविष्ट हुए इसलिए ही कहते हैं कि अग्नि सर्वदेव रूप है वैसे ही अग्नि देव भी जल में प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार किसी निमित्त से ही सबका सर्वदेव रूपपन जो कहा है वह गौण ही है । स्वभाव से तो भगवान् ही सर्व रूप हैं । 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' किसी समय आत्मा ही सब होता है, इस मतानुसार वे देव भी श्रीकृष्ण स्वरूप में ही पूज्य हैं । 'इन्द्रादयो बाहवः' इन्द्र आदि देव भुजाऐं है, इत्यादि प्रमाण से आधिदैविक ही यज्ञ का भाग लेने वाले हैं । यों हैं, तो भी किस देश में, किस काल में, वहां प्रारम्भ किया हुआ यज्ञ ऋषियों के आधीन होने से उस देश और काल के अभिमानी देव ही प्रकरण वश पूजा के योग्य होते हैं । इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हैं कि देश, काल, धन भी वही हैं । शंका करते हैं कि योग्य का सम्बन्ध योग्य से ही होना चाहिए, धनादि पदार्थ प्राकृत हैं, वे साक्षात् अप्राकृत भगवान् को कैसे दिए जा सकते हैं ? लोक में शुद्र भी अपनी कन्या ब्राह्मण, गुरू वा स्वामी को नहीं देता है, किन्तु अधम शुद्र को ही देना चाहता है, आदि शब्द से वस्त्र आभूषण गौ आदि कही जाती हैं ॥१९॥

आभास—एवं ब्रह्मत्वमङ्गीकृत्य तस्मिन् दानं समर्पितं ब्रह्मत्वं तु साधयति **यदात्मकमिदं विश्वमिति** ।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण में ब्रह्मत्व है अर्थात् श्रीकृष्ण ब्रह्म है इसलिए इनकी ही अग्र पूजा करनी चाहिए, इस ब्रह्मत्व को 'यदात्मकमिदं विश्वं' श्लोक में सिद्ध करता है ।

श्लोक—यदात्मकमिदं विश्वं कतवश्च यदात्मकाः ।
अग्निराहुतियो मन्त्राः सांख्ये योगश्च यत्परः ॥२०॥

श्लोकार्थ—यह विश्व और यज्ञ जिस श्रीकृष्ण के रूप हैं अग्नि, आहुतियाँ एवं मन्त्र भी जिसके रूप हैं सांख्य तथा योग भी जिसके परायण हैं ॥२०॥

सुबोधिनी— विश्वस्येतदात्मकत्वे यशोदा प्रमाणं न केवलं लौकिकात्मत्वे ब्रह्मत्वमिति वेदार्थरूपत्वमप्याह **क्रतवश्च यदात्मका** इति । क्रतूनां तदात्मकत्वे वरहावतार एव प्रमाणम् ।

सर्वयज्ञस्वरूपत्वं प्रकटयन् तेन रूपेण प्रादुर्भूतो भगवान् । सर्वमग्नौ हूयत इति अग्निप्रीतिः कर्तव्येति प्रकरणपक्षेऽप्याह **अग्निरिति** । अयमेवाग्निः 'ब्रह्मा तर्हि अग्निः' इति श्रुतेः तादृश एव च होमः । योग्यत्वाय आहुतींनां भगवत्त्वमाह **आहुतय** इति । मन्त्राभिमानिनी देवता प्रकरणवशान्मुख्येत्याशङ्क्याह **मन्त्रा** इति । तथापि शास्त्रानुसारेण यो महान् भवति स एव ग्राह्यो न युक्त्या किंचित् कर्तव्यमित्याशङ्क्यामाह **सांख्यं योगश्चयत्पर** इति । वेदादीनि पञ्चशास्त्राणि तत्र ब्रह्मत्वे यज्ञत्वे च सिद्धे वेदार्थः सिद्धः । सांख्यस्य त्वत्रैव तात्पर्यं एतस्यैव सर्वात्मत्वं स्नेहानिश्चितम् । योगस्यापि ध्यानमूर्तिरयमेवेति **आत्मेति** च एतदर्थमेव चित्तवृत्तिरोधोमिति 'आत्मन्येव वशं नयेत्' इति वाक्यात्तात्पर्यम् । चकारात्पशुपतिमतस्याप्यत्रैव। स्कन्दपुराणे महादेवेन स्कन्दं प्रत्युक्तवात् 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम् । शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि' इति । वैष्णवसिद्धान्ते तु न सन्देह एव । अतः सर्वशास्त्राणामत्रैव तात्पर्यमित्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यह विश्व इन (श्रीकृष्ण) का रूप है जिसमें यशोदा प्रमाण है केवल विश्व की आत्मा होने से ही श्रीकृष्ण का ब्रह्मत्व नहीं है किन्तु वेद के अर्थ जो यज्ञ हैं इनके भी आत्मा ये ही हैं अर्थात् यज्ञ भी इनके रूप हैं, यज्ञ इनके रूप हैं जिसमें वराह अवतार प्रमाण है। सर्व यज्ञों का स्वरूप प्रकट करते हुए इस (वराह) रूप से भगवान् प्रकट हुए, सब अग्नि में होमा जाता है, इससे अग्नि की प्रीति करनी चाहिए, इस मत के प्रकरणानुसार ही कहा है कि अग्नि भी यह ही हैं, अग्नि ही ब्रह्म होने से अग्नि पूजा के योग्य है, आहुतियाँ भी इनके ही रूप होने से पूजनीय हैं। प्रकरण वश मन्त्र का अभिमानी देवता पूज्या है इसलिए कहा मन्त्र भी इनके ही रूप हैं, तो भी शास्त्र के अनुसार जो महान् होवे वह ही महान् समझना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए, युक्ति से कुछ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हैं कि 'साङ्ख्यं योगश्च यत्परः' साङ्ख्य और योग का भी इनमें ही तात्पर्य हैं। वेद आदि जो पांच शास्त्र हैं वहाँ ब्रह्मत्व और यज्ञत्व सिद्ध हो जाने से वेद का अर्थ सिद्ध हो गया। साङ्ख्य का तात्पर्य इनमें इसीलिए है कि स्नेह से सबका आत्मापन सिद्ध हुआ है, सब आत्मा है, इस साङ्ख्य ज्ञान के कारण ही सब प्रिय लगता है योगानुसार ध्यान योग्य मूर्ति भी ये ही हैं इसलिए कि आत्मा हैं, इसके लिए ही इनमें चित्त की वृत्ति का निरोध योग कहा है चित्त को आत्मा के ही अधीन करें, इस प्रकार वाक्य से तात्पर्य है, 'च' पद से पशुपति मत का भी यहां ही (श्रीकृष्ण में ही) तात्पर्य है, जैसा कि स्कन्द पुराण में महादेवजी ने स्कन्द को कहा है कि 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम् । शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि' एक विष्णु ही बड़ा है, उनका ज्ञान ही परम ज्ञान है शास्त्रों का यह ही निर्णय है, अन्य प्रकार जो कुछ कहा है वह मोहित करने के लिए कहा गया है, वैष्णव सिद्धान्त में तो इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं है। अतः सर्व शास्त्रों का इन (श्रीकृष्ण) में ही तात्पर्य है, इस प्रकार अर्थ (तत्व) है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि ब्रह्मलक्षणाभावे कथं ब्रह्मत्वमिति चेत्तत्राह **एक एवाद्वितीयोऽसाविति** ।

आभासार्थ—तो भी यदि श्रीकृष्ण में ब्रह्म के लक्षण नहीं हो तो वे ब्रह्म कैसे ? इसका उत्तर 'एक एवाद्वितीयो' श्लोक में देता है।

श्लोक—**एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।**
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥

श्लोकार्थ—ये श्रीकृष्ण ही एक और अद्वितीय हैं तथा इस जगत् के आत्मा भी ये श्रीकृष्ण ही हैं, हे सभासदों ! आप ही अपने आश्रयरूप और अजन्मा ये ही जगत् को बनाते हैं पालते हैं और लीन करते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—वेदान्तेषु एकं ब्रह्म अद्वितीयं ब्रह्मेति क्वचित् ब्रह्मलक्षणं क्वचिन्निर्णयशास्त्रे विश्वं ब्रह्मेति अत एव विश्वमित प्रथमनाम । किंच, स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः । 'यो ह्यात्मानं स्वयं करोति स आत्मा ब्रह्मेति 'यस्त्वात्माश्रयः स ब्रह्मेति' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिभिः सृष्टिप्रलयकर्ता ब्रह्मैव यस्तु सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरकः स ब्रह्मेति 'अन्तरो यमयति इति श्रुतेः । एवं बहुवाक्यानुरोधेन सर्वमेव धर्मजातं भगवद्गतमित्यनुवदति । **एक एवायं** महतां दृष्टिरत्र प्रमाणं । ते हि सर्वत्र कृष्णमेव पश्यन्ति **अद्वितीयश्च** 'ज्योतीषि विष्णुः' इत्यादिवाक्यात् । तेषामनुभवोऽपि प्रमाणं सोऽन्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **असाविति** । सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः । तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' इति मार्कण्डेयवाक्यात् पर्णपुटे तेनायमेव दृष्ट इत्यभिज्ञानाच्च । किंच । **ऐतदात्म्यमिदं जगत्** दुर्वाससा आरण्यके पर्वणि निर्धारितं अन्यथा शाकान्नमुष्टिभक्षणेन कथं ते तृप्ता भवेयुः । किंच । अयमेवात्मनात्माश्रयो भूत्वा जगत् आत्मस्वरूपं **सृजत्यवति हन्ति** स्वयं त्वजः । अत्र प्रमाणं **सभ्या** इति संबोधनं संमत्यर्थम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ— वेदान्तों[1] में ब्रह्म एक है एवं अद्वितीय है, इसी प्रकार का लक्षण कहीं कहा गया है, किसी निर्णय करने वाले शास्त्र में कहा है कि 'विश्वं ब्रह्म' विश्व ब्रह्म है इस कारण से ही 'विश्व' यह पहला नाम है फिर अन्यत्र 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इस श्रुति में कहा है कि उन्होंने अपने को आप[2] ही किया। जो अपने को आप ही अनेक रूप विश्व कर सकते हैं वे ही आत्मा ब्रह्म हैं और जो अपना आश्रय भी आप ही हैं, वह ब्रह्म है और जिससे ये प्राणी मात्र उत्पन्न होते हैं, इन और अन्य श्रुतियों से सिद्ध है कि सृष्टि और प्रलय करने वाला ही ब्रह्म है, जो कि सर्व के अन्तर्यामी, सर्व के प्रेरक वे ही ब्रह्म हैं, 'अन्तरो यमयति' इस श्रुति के अनुसार जो अन्दर विराजमान है वे ही वश करते हैं अर्थात् सर्व के अन्तर्यामी भीतर ही बैठ कर जो सबको प्रेरणा कर रहे हैं, वे ही ब्रह्म हैं, इसी भाँति अनेक वाक्यों के आग्रह से सर्व धर्म से उत्पन्न जो कुछ है वह सर्व भगवान् में रहा हुआ है यों कहने लगा।

ये एक ही हैं, इस विषय में महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि वे ही सर्वत्र सर्व में श्रीकृष्ण का ही दर्शन कर रहे हैं, और वे ही अद्वितीय हैं, क्योंकि 'ज्योतीषि विष्णुः' इस श्रुति में तारों को भी विष्णु कहा है, इस तरह उन महापुरुषों का अनुभव भी इस विषय में प्रमाण है। वे अन्य होंगे ? इस शंका के उत्तर में कहता है कि 'असौ' वे ये ही हैं जैसे कि कहा है 'सर्वेषामेव भूतानां' पिता माता स माधवः तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' यह श्लोक मार्कण्डेय पुराण

१—उपनिषदों में २—आप ही विश्वरूप बने

का है, मार्कण्डेय ऋषि ने दोनों में इनको ही देखा था, अतः कौरवों को इस श्लोक में यह उपदेश दिया है कि सब ही प्राणियों के माता पिता वे [1]माधव ही है अतः हे कौरव श्रेष्ठों ! उन शरण्य की शरण लो और फिर 'ऐतदात्म्यमिदं जगत्' इस जगत् की आत्मा वे ही हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दुर्वासा ने देखकर आरण्यक पर्व में कहा कि ये ही सबकी आत्मा हैं अन्यथा इनके शाक के पत्ते खाने से सब तृप्त कैसे हो जाय ? और विशेष में ये ही अपने आपके ही आश्रय होकर आत्म स्वरूप जगत् को बनाते हैं, पालते हैं और लीन करते हैं किन्तु आप अजन्मे ही रहते हैं इसमें प्रमाण आप सभ्य हैं यह सम्बोधन सम्मति लेने के लिये दिया है ॥२१॥

श्लोक—**विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ।**
ईहते हृदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—ये ही भगवान् इस जगत् में अनेक प्रकार के कर्म उत्पन्न करते ही रहते हैं, उनकी ही कृपा से सब लोग अनेक प्रकार के शुभ कर्म कर धर्मादि पुरुषार्थ सिद्ध कर कल्याण प्राप्त करते हैं ।

सुबोधिनी—किंच । इहैव जगति **विविधानि कर्माणि जनयन्** यो वर्तते । सर्वकर्माण्ययमेवोत्पादयति 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इति वाक्यानुसारेण । अत्रापि प्रमाणं 'सभ्या' इत्येव । किंच । साक्षी चायं यतः **सर्वो**ऽपि लोकोऽस्मदादिः **धर्मादिलक्षणं श्रेय ईहते यदवेक्षयैव**, न हि भगवदवेक्षाभावे श्रेयः सिद्धयति । अत्र वयमेव प्रमाणम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जो श्रीकृष्ण इस जगत् में अनेक कर्म उत्पन्न करते हुए विराजते हैं 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इस वाक्य के अनुसार अन्दर प्रवेश कर, जो मेरी वाणी को प्रेरणा करते हैं ये भगवान् ही सर्व कर्मों को उत्पन्न करते हैं इसमें भी आप सभ्य होने से प्रमाण हैं साक्षी तो ये ही हैं क्योंकि हम सब लोग जिनके सहारे सेवा कृपा दृष्टि से ही धर्म आदि रूप कल्याण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं, भगवान् की कृपा दृष्टि के बिना श्रेय की सिद्धि नहौ हो सकती इस विषय में हम ही प्रमाण हैं ॥२२॥

श्लोक—**तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।**
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—इसलिए महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को ही अग्र पूजा दीजिए यों करने से सब प्राणियों की और अपनी भी पूजा हो जायगी ॥२३॥

सुबोधिनी—**तस्मात्** साक्षात्पूर्ण परब्रह्मत्वात् सर्वानुपपत्त्यभावाच्च । **कृष्णायैव दीयतां परमार्हणम्** । तथाप्यस्मदपेक्षया कनिष्ठः मातुलेयः कथं दानमर्हतीत्याशङ्कायामाह **महत** इति । विश्वरूपप्रदर्शनाद् 'पिता माता' इति वाक्याच्च महत्त्वं सिद्धं मोहार्थमेव च तस्याल्पत्वमिति, परत्वल्पार्हणं न देयं किंतु **परमार्हणम्** । नन्वेवं कृते को विशेषः अलौकिकं च भवति अतो व्यासादिरेव कश्चित्पूजार्हो भवत्वित्याशङ्कायामाह **एवं चेदिति** । अत्र बहवः एव समानास्तिष्ठन्ति सर्व एवैकदा पूजयितुमशक्याः तत एकपूजायामन्यद्रोहो भवतीति प्रत्यक्षविरोधः । अथ 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इति श्रुतिविरोधश्च । अतस्तादृशाय देयं यस्मिन् दाने सर्व एव तृप्ता भवन्ति सोयमेवेत्याह **एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेदिति** ॥२३॥

१—स वे का तात्पर्य है जिसका दर्शन मैंने पर्णपुट (दोने) में किया है ।

व्याख्यार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परब्रह्म हैं जिस में किसी प्रकार अयोग्यपन नहीं हैं सब प्रकार की उपपत्तियाँ विद्यमान (मौजूद) हैं इसलिए इनकी ही अग्रपूजा कीजिए ।

यों है तो भी हमारी अपेक्षा वे छोटे हैं, मामा के बेटे हैं वे दान कैसे लेंगे ? इस शंका को मिटाते हैं कि ये 'महान्' हैं क्योंकि उन्होंने अपने में विश्वरूप का दर्शन कराया है तथा 'माता पिता' है यों पहले कह आए हैं, इस वाक्य से भी उनका महान्पन सिद्ध है, उनका अल्पत्व मोह के कारण ही हम लोग समझते हैं, अथवा हमको मोह में फंसाने के लिए अल्पत्व प्रकट करते हैं, अतः इनका पूजन साधारण नहीं करना किन्तु महान् पूजन करना चाहिये ।

यों करने पर क्या विशेषता अथवा अलौकिक होगा ? अतः जैसे व्यासादि ही कोई ऋषि पूजा के योग्य हो वैसे ही करना चाहिए इसके उत्तर में कहता है कि यदि यों किया जायेगा तो असमञ्जसता[1] होगी, क्योंकि यहां बहुत एक समान बैठे हैं सबकी साथ में पूजन करना अशक्य हैं तो एक की पूजा से दूसरे का द्रोह[2] होगा, इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोध है और 'योऽन्वां देवतामुपास्ते'[3] इस श्रुति का भी विरोध होगा, अतः उसका यह अग्रपूजन किया जाय जिसके करने से सब प्रसन्न एवं तृप्त हों ऐसे तो ये श्रीकृष्ण ही हैं इस प्रकार यदि पूजा दान करने में आवे तो सर्वभूतों का, अपना भी पूजन हो जाएगा ॥२३॥

आभास—तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मभूतायेति** ।

आभासार्थ—'सर्वभूतात्मभूताय' श्लोक से इसमें कारण बताता है ।

श्लोक—**सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।**
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥२४॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य दान का अनन्त फल चाहता हो उसको चाहिए कि सर्व प्राणी रूप और आत्म रूप हुवे अन्य कुछ भी न देखने वाले, शान्त और पूर्ण स्वरूप इन श्रीकृष्ण को ही पूजा दान देवें ।

सुबोधिनी—**सर्वभूत**भूतः **आत्मभूत**श्च । वेदव्यासव्यावृत्त्यर्थं **कृष्णाये**त्येकवचनकथनम् । ननु तथापि गृहीत्वावतारः कदाचिदपि आत्मानं परिच्छिन्नं मन्यते तदा दोषाद्दानमनुचितं स्यादित्या-

१—दुविधा, २—अपमान, ३—दुसरे देव की पूजा करते हैं ।

शङ्कचाह । **अनन्यदर्शिन** इति । न ह्यस्य क्वचिदप्यन्यदर्शनमस्ति किंतु सर्वमात्मत्वेनैव पश्यतीत्यर्थः प्रसङ्गाद्दोषान्तरमपि वारयति **शान्ताय पूर्णायेति** । **शान्तो** दानपात्रं **पूर्णश्च**, लोलुपता क्रोधश्च, दोषौ । एवं निर्दोषपूर्णगुणपात्रे दाने अनन्तं फलं भवति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्राणिरूप और आत्मरूप बने हुए को ही दान करना चाहिए, वेद व्यास को दान नहीं करना चाहिए इसलिए 'कृष्णाय' एक वचन देकर स्पष्ट कर दिया है कि कृष्ण के सिवाय अन्य किसी को भी पूजा दान नहीं देना चाहिए ।

यों होते हुए भी यदि अवतार धारण कर श्रीकृष्ण किसी समय अपने को अवच्छिन्न मानलें तो इस दोष के कारण, दान लेने के योग्य न होंगे, इस प्रकार की शंका होने पर यह दूसरा विशेषण 'अन्य कुछ भी नहीं देखते हैं' दिया है, अर्थात् सब मैं ही हूं, यों ही देखते हैं, प्रसंग के कारण दूसरा कोई भी दोष उनमें नहीं है क्योंकि शान्त और पूर्ण दो विशेषण दूसरे भी दिये हैं जिसका तात्पर्य है कि शान्त होने से दान के पात्र हैं पूर्ण होने से लोभीपन, और क्रोध ये दोष भी नहीं हैं । इस प्रकार जो निर्दोष और पूर्ण गुण वाले हैं उनमें दान अत्यन्त फलदायी होता है ॥२४॥

श्लोक—**इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।**
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले सहदेव ने इतने वचन कहकर मौन धारण किया, ये वचन सुनकर सब प्रसन्न हुए और धन्य धन्य कह कर प्रशंसा करने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—एवं युधिष्ठिरमुक्त्वा स्वयमुद्यममकृत्वा **तूष्णीभूतः** अन्यथा पूजार्थं स्वयमेव बलात्सामग्रीं संपादयेत् । तत्र हेतुः **कृष्णानुभाववित्** इति । स्वयमेव भगवदनुभावः सर्वेषां हृदयं प्रेरयिष्यति यद्यभिप्रेतोर्थो भविष्यति । अत्र भगवद्धर्माः प्रकटा भवन्तीति भगवदिच्छायां संदेहात् तूष्णींभावः । ततो भगवदिच्छया तद्वाक्यं सर्वसंमतं जातमित्याह **तच्छ्रुत्वेति** । **सर्व** एव सोऽर्थः सर्वयुक्तिसह इति **साधुसाध्विति**युक्त्वा भगवन्तं सहदेवं **तुष्टुवुः** । दैत्यांशानां स्तोत्रं तेषां नाशप्रतिबन्धकमिति तत्र भगवदिच्छाभावात् **सत्तमा** एव तथोक्तवन्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार युधिष्ठिर को कह कर, स्वयं कुछ उद्यम न कर चुप रह गये, नहीं तो स्वयं (खुद) पूजा के लिए बलपूर्वक पूजा की सामग्री सिद्ध करते, जिसमें (सामग्री सिद्ध न करने में) कारण कि श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले थे, भगवान् स्वयं यदि अग्रपूजा चाहते होंगे तो सबके हृदय में वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जिससे इच्छित कार्य सिद्ध हो जायगा, यहाँ भगवान् के धर्म प्रकट होते हैं, भगवान् की इच्छा क्या है ? इसका निश्चय न जानने से मौन धारण की । पश्चात् भगवान् की इच्छा से उसके वाक्य सबको योग्य लगे (पसन्द आए) । इसलिए कहते हैं कि वे वचन सुनकर सब ही कहने लगे कि इसके कहे हुए वचन युक्ति युक्त हैं इसलिए सबने धन्य धन्य कहा जिससे भगवान् एवं सहदेव प्रसन्न हुए, यहाँ दैत्यांशों ने सहदेव के वचनों की स्तुति (प्रशंसा) नहीं की, यदि करते तो उनके नाश में वह स्तुति रुकावट हो जाती अर्थात् वे मरते नहीं, उनके बचने में भगवान् की इच्छा भी नहीं थी, इसलिए ही जो दैत्यांश न थे, उत्तम ही थे उन्होंने स्तुति की ॥२५॥

आभास—ततः सर्वं संमतिः ज्ञात्वा शापादिभयं परित्यज्य भगवतपूजार्थं प्रवृत्त इत्याह **श्रुत्वा द्विजेरितमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् सबकी सम्मति जान, शाप आदि के भय को त्याग भगवान् की पूजा के लिए युधिष्ठिर प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा द्विजेरितं' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।**
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणय विह्वलः ॥२६॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के वचन सुन, सभासदों का अभिप्राय जानकर, प्रसन्न तथा प्रेम से विह्वल राजा ने इन्द्रियों के ईश भगवान् का पूजन किया ॥२६॥

सुबोधिनी—सर्वैरेव **द्विजैरीरितं राजत्वात्तोषां** भावमपि जानाति तदाह **ज्ञात्वा हार्दं सभासदामिति** । अत्र वादिनामविवादं मन्यते सभासदः ततः इन्द्रियप्रेरकमन्तर्यामिणं तत्प्रेरितः सन् **समर्हयत्** । **प्रीत** इत्यन्तःकरणेन पूजनम् । **प्रणय-विह्वल** इतीन्द्रियैः । शरीरेण तु पूजयत्येव ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ जो भी ब्राह्मण उपस्थित थे सबने सहदेव के वचनों से सम्मति दिखलाते हुए धन्य धन्य कहा, उनके यह वचन सुन, आप राजा हैं अतः उनका आशय भी समझ कर तदनुसार करने लगा, क्योंकि वहां वादियों ने कोई विवाद भी नहीं किया, जिससे राजा उनकी भी सम्मति जान कर, पश्चात् इन्द्रियों के प्रेरक अन्तर्यामी की, उनकी प्रेरणा से पूजा करने लगा, प्रसन्न हो पूजा करने लगा, इससे यह जताया है कि अन्तःकरण से पूजा करने लगा न कि ढोंग से दिखावा करने लगे, प्रेम से विह्वल का भावार्थ है कि इन्द्रियों से भी पूजा की, शरीर से, तो (जो) कर रहे हैं वह सब देखते ही हैं ॥२६॥

आभास—तत्पूजाप्रकारमाह **तत्पादाववनिज्येति** ।

आभासार्थ—उनकी पूजा का प्रकार 'तत्पादाववनिज्यापः' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।**
सभार्यः सानुगामात्यः सकुटुम्बोवहन्मुदा ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण धोकर जगत् को पवित्र करने वाला यह जल, राजा ने स्त्रियों, छोटे भाई, अमात्य और कुटुम्ब के साथ आनन्द पूर्वक शिर पर चढ़ाया ॥२७॥

सुबोधिनी—चरणोदकधारणमतिश्रद्धाबोधकं अन्यथा 'अश्रद्धया' इति दानं व्यर्थं स्यात् । अतः **अपः लोकपावनीः शिरसा अवहत्** । **सभार्य** इति सम्पूर्णः **सानुगामात्य** इतिसेवकामात्यसहितः **सकुटुम्बश्च** । अनेन सर्वेषां श्रद्धा संमतिश्चोक्ता ॥२७॥

व्याख्यार्थ—चरणों का जल शिर पर धारण करना श्रद्धा का बोधक है, यदि श्रद्धा न होवे तो दिया हुआ दान व्यर्थ है, अतः लोकों को पवित्र करने वाला चरणों का जल स्वयं ने, स्त्रियों छोटे भाई, सेवक, मन्त्री और कुटुम्ब सहित अपने २ शिर पर चढाया, यों करने से सबकी श्रद्धा और सम्मति प्रदर्शित की है ॥१७॥

आभास—ततः पीताम्बरादिभिः पूजनमाह **वासोभिरिति** ।

आभासार्थ—'वासोभिः' श्लोक से पीताम्बर आदि वस्त्रों से पूजन कहते हैं।

श्लोक—**वासोभिः पीतकोशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।**
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—पीले रेशमी वस्त्र और अमूल्य आभूषणों से जब पूजन किया, तब राजा के नेत्र आँसुओं से भर गये जिस कारण से वे देख भी नहीं सके ॥२८॥

सुबोधिनी—योग्यत्वाय **पीतकौशेयैः** पीतपट्टवस्त्रैर्महाधनैर्**भूषणैश्च** पूजनम्, हर्षश्चान्तरस्थः । भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवतीति ज्ञापयितुमाह **अर्हयित्वेति** । अश्रुभिः पूर्णे अक्षिणी यस्येति भगवद्दर्शनेन चक्षुस्तेजःप्रसवसहितं जातमित्यर्थः । ततो यथाभिलषितमपि न द्रष्टुं शक्त इत्याह **नाशकत्समवेक्षितुमिति** । दर्शनोपभोगेनापि तन्न व्ययितमिति तस्याधिदैविकसमाराधनं पूर्णमेव स्थितमिति सूचितम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण पूजन करने के योग्य थे, इसलिए उनका पीले रेशमी वस्त्रों से और अत्यन्त कीमती अलंकारों से पूजन किया, प्रसन्नता तो भीतर हृदय में ही स्थित थी, भक्ति से जब पूजन किया जाता है, उस समय अंग में विकलता नहीं होती है, इसलिए कहा है कि 'पूजयित्वा' अर्थात् पूजा करने के अनन्तर जो प्रेमानन्द उत्पन्न हुआ उससे नेत्रों में जल भर गया जिस कारण से युधिष्ठिर, अभिलषित के दर्शन भी न कर सका, जिसका अन्तः तात्पर्य यह है कि भगवान् के दर्शन के उपभोग से वह व्यथित नहीं हुआ अर्थात् उसका आधिदैविक पूजन पूर्ण ही हुआ ॥२८॥

आभास—अयमुत्तमाधिदैविको धर्मो भवतीति ज्ञापयितुं सर्वसभाजनमाह **इत्थं सभाजितमिति** ।

आभासार्थ—यह आधिदैविक धर्म उत्तम है यह बताने के लिए सर्व ने धन्यवाद दिया, यह 'इत्थं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।**
नमो जयेति नेमुस्तुं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मनुष्य, भगवान् का सत्कार हुआ देख हाथ जोड़ 'नमो जय' ऐसा शब्द उच्चारते हुए प्रणाम करने लगे, तब पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥२९॥

सुबोधिनी—कायवाङ्मनोभिः स्तोत्रं मात्सर्याभावश्चोच्यते । **प्राञ्जलय** इति कायिको व्यापारः । **नेमुरिति** मानसः । **जये**ति वाचनिको, मात्सर्याभावश्च । न केवलं तत्रत्यानां किंतु दिविष्ठानामपीति ज्ञापयितुमाह **निपेतुः पुष्पवृष्टय** इति । अयं धर्मः सर्वोत्तमो जात इति ज्ञापनार्थम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—ईर्ष्या विना काया, वाणी और मन से स्तुति की 'हाथ जोड़े' यह काया की क्रिया की है, 'प्रणाम किया' यह मन की क्रिया की है 'नमो जय' यह वाणी की क्रिया की हैं अर्थात् लोगों ने इस प्रकार काया, वाणी और मन की क्रिया से विना मत्सर के स्तुति की है न केवल पृथ्वी पर स्थित लोगों ने किन्तु देव लोकों में रहने वालों ने भी पुष्प वृष्टि कर अपने में मात्सर्य का अभाव दिखाया एवं स्तुति करने का भी प्रमाण दिया, यह भगवान् का सत्कार रूप धर्म सबसे उत्तम हुआ है यह भी यों करने से बताया है ॥२९॥

आभास—दैत्यांशस्यानभिनन्दनं प्रद्वेषो निन्दा च भगवतश्चाभिप्रेतोर्थ इति स्वतस्तन्मारणं सर्वात्मकत्वात् तस्यापि भोगार्थं बाधकांशं निराकृत्य सायुज्यमपि निरूप्यते । तत्रादौ तद्दर्शनेन दैत्यक्षोभमाह **इत्थं निशम्येति** ।

आभासार्थ—दैत्यांशने अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु भगवान् की निन्दा कर शत्रुता प्रकट की । यह ही अर्थ (कार्य) भगवान् को इच्छित था, उनके यों करने से स्वयं (खुद) ही अपनी मृत्यु का कारण बना जिससे स्वयं भगवान् ने उसको मारा, भगवान् सर्वात्मा होने से उसकी भी आत्मा हैं, अतः उसके भी भोग के लिए बाधकांश का निराकरण कर दिए हुए सायुज्य का भी निरूपण करते हैं, वहाँ प्रथम भगवान् की अग्रपूजा देख दैत्य को क्षोभ हुआ, जिसका वर्णन 'इत्थं निशम्य' श्लोक में करते है ।

श्लोक—**इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।**
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥

श्लोकार्थ—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल इस प्रकार, श्रीकृष्ण के गुणोत्कर्ष के वचन सुनकर, अपने आसन से उठा, भगवान् के गुण वर्णन से क्रोध में भर गया, भगवान् का महत्त्व न सह सकने से भुजा उठा, निर्भय हो सभा के मध्य में भगवान् को निम्न प्रकार के अपशब्द सुनाने लगा ॥३०॥

सुबोधिनी—सर्वेषामनुमोदनं स्तोत्रं च **निशम्य** विपरीतमदस्य,**दुष्टमदस्य** यो **घोषः** सर्वलोकेषु बन्धवः तदात्मको **दमघोषः** तत्सुतः बीजयोनिदोषेण **दुष्टः स्वतो**ऽपि उपविष्टश्चेद्ब्रूयात्तदा सर्वोऽपि न श्रोष्यतीति **स्वपीठादुत्थाय,** भगवता स्वधर्मप्राकट्ये कृते सिंहासने भगवद्धर्मः प्रकटो जात इति स तत उत्थापित इति वस्तुस्थितिः । तस्यानधिकारं सूचयति **कृष्णगुणवर्णनेन जातो मन्युर्य-**स्येति । स एव दैत्यांशो ज्ञेयः यो भगवत्संबन्धिनमर्थं श्रुत्वा न सहते संतप्तश्च भवति, प्रतिकुलं च वदति ततश्च दैत्यसंधानं यज्ञे न युक्तमिति भगवत्प्रेरणयैव तस्यातथावचनम् । अन्यथा वध्यो न भवतिः देवा मनुष्याः पितर एकत्र, असुरा रक्षांसि पिशाचाश्चैकत्र, 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इति मन्त्रलिङ्गात्सर्वथा निराकार्याः असुरादयः तत्रायं बन्धुवेषेण गुप्त इति अशक्य-

वधो भवति तदर्थमेतावन्निरूप्यते **उत्क्षिप्य बाहु-मिति** । क्रियाशक्तिः स्वस्य महती इति सूचयति । इदं वक्ष्यमाणमाह **सदसीति** । तस्यापराधः सर्व-जनीनो भवत्विति ज्ञापितम् । **सदसि** सर्वानेव

भगवते परुषाणि अभीक्ष्णशः **श्रावयन्निति** सर्वेषा-मेव शत्रुरयमिति ज्ञापितम् । **अभीत** इति सर्वेषा-मशक्यवधः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—सर्व लोगों ने, जो भगवान् की अग्रपूजा का अनुमोदन किया और स्तुति की, उसको सुनकर, दूषित अहंकार की जो लोकों में गर्जना उसका रूप 'दमघोष' था जिसका पुत्र यह शिशुपाल था अतः बीज और योनि के दोषों के कारण वह भी दुष्ट ही हुआ है, अपने आसन से उठ कर खड़े हो बोलने लगा, क्योंकि उसने समझा कि बैठ कर बोलूंगा तो सब नहीं सुनेंगे आसन से उठने का वास्तविक आशय यह था कि 'भगवान् ने अपने गुण जब प्रकट किये तो सिंहासन में भी भगवान् के गुण प्रकट हुए, जिससे वह उस सिंहासन पर बैठ न सका, उससे उसको उठना ही पड़ा क्योंकि वैसे आसन पर ऐसा दुष्ट बैठ नहीं सकता है, वह भगवान् के गुणश्रवण का अधिकारी ही नहीं था, जिससे गुणों के सुनने से आनन्द के स्थान पर उसको क्षोभ (दुःख) हुआ, इससे यह प्रमाणित होता है कि वह दैत्यांश है जो भगवत्सम्बन्धी विषय सुनकर सहन नहीं करता हैं प्रत्युत सन्तप्त होता है और उसके विरुद्ध बोलने लगता है । यज्ञ में दैत्य का सम्बन्ध योग्य नहीं होने से भगवत्प्रेरणा से ही वह अयोग्य वचन कहने लगा, जो वैसे शब्द न बोले तो मारने के योग्य न होता, देव, मनुष्य और पितर एक तरफ और असुर, राक्षस तथा पिशाच दूसरी तरफ 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इस मन्त्रलिंग से सर्वदा असुरादि निराकरण के योग्य हैं, किन्तु यह दैत्यांश होते हुए भी बान्धव वेषधारी होने से प्रकट देखने में नहीं आता था इसलिए इसका वध कठिन था, उसके लिए इतना कहा जाता है । हाथ ऊपर लम्बा कर बताया कि मेरी क्रियाशक्ति बलवान (जबर्दस्त) है अतः सभा में निम्न ढंग से बोलने लगा, सभा में इस तरह कहने लगा कि जिससे वहाँ बैठे हुए लोगों को एवं भगवान् को कहे हुए अपशब्दों का ज्ञान सबको हो जाय, सबकी और भगवान् को बार बार कठोर तथा अपशब्द सुनाता हुआ यह सिद्ध कर रहा था कि यह सबका शत्रु है । बोलते हुए डरता ही नहीं था ज्यों आया त्यों अनर्गल बोलने लगा जिससे अपना वध होना सबके लिए अशक्य है यह सूचित करता था ॥३०॥

आभास—तादृशस्य सर्वोपालम्भवाक्यमाह **ईशो दुरत्ययः काल** इति ।

आभासार्थ—वैसे ने सबको जो उपालम्भ दिए अर्थात जिस तरह सब की निन्दा की, वे वचन 'ईशो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।**
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल कहने लगा कि काल और ईश अलङ्घ्य हैं यह श्रुति सत्य है, क्योंकि समय बल से, वृद्धों की बुद्धि भी बालकों के कहने पर बदल जाती है ॥३१॥

सुबोधिनी—सदसस्पतयो हि सभायां युक्ता-युक्तं विचारयन्ति, अतस्तान् प्रत्युपालम्भ उचितः । यद्दैत्यांशः समीपे स्थितोऽपि न निवार्यत इति । यदत्रानुचितं जायते धर्मस्थाने तत्र हेतुः **काल** एव । स हि कदाचिद्धर्ममङ्गीकरोति कदाचिदधर्ममिति द्विःस्वभावः स च **ईशः** कस्याप्यनुल्लङ्घ्य इति कालमाहात्म्यवादिनी **श्रुतिः सत्यैव** । 'स **कालो** यद्वशे लोक' इति । कः कालस्य त्वया विपरीतो धर्मो दृष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह **वृद्धानामपि यद्-बुद्धिरिति** उभयथापि सभासदो वृद्धाः निन्दापक्षे सहदेवो बालः स्तुतिपक्षे शिशुपालः नाम्ना शिशु-श्चासौ पालश्चेति । पलसमूहः पालः मांसराशिः न तु कश्चित्तत्र धर्महेतुरिन्द्रियवर्गो जीवो वा तिष्ठतीति पलाशानामेव योग्यः कालस्यैतद्विपरीतं यदेतद्वाक्येनापि वृद्धानामपि बुद्धिः भेदं प्राप्स्य-तीति । स्वस्यानुगुणः काल इति एकोपि सभायां तथा विरुद्धं वदामिति ज्ञापितवान् । एतद्द्वितीयं सभासदां दूषणम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—सभासद ही सभा में अच्छे और बुरे को विचारते हैं अतः उनको उपालम्भ (उल्हाना) देना उचित है, यहाँ जो दैत्यांश समीप में स्थित हैं तो भी उसको नहीं निकालते हैं, यहाँ धर्मस्थान में जो अयोग्य हो रहा है उसका कारण काल ही है, क्योंकि उसका स्वभाव दो प्रकार का है कभी धर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी धर्म में प्रवृत्ति कराता है और कभी अधर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी अधर्म में प्रवृत्ति कराता है, कारण कि 'ईश' होने से सर्व समर्थ हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसलिए काल के माहात्म्य को बोलने वाली श्रुति सच्ची है । 'स कालो यद्वशे लोकः' जिसके वश में लोक है वह 'काल' है, तूने कोई काल का विपरीत धर्म देखा ? इसके उत्तर में कहता है कि हाँ, मैंने देखा । कैसे ? जो मैंने देखा वह सब आप क्या नहीं देख रहे हैं कि काल ने एक बालक के वचनों से वृद्धों की बुद्धि भी बदला दी है, दोनों प्रकार सभासद वृद्ध हैं यदि उनकी निन्दा करता है तो सहदेव अभी बालक है उसके कहने से कृष्ण की अग्रपूजा में सम्मति देकर वह कराई है, यदि स्तुति करता है तो यों अर्थ होता है कि शिशुपाल मांस का ढेर है उसमें कोई धर्म का कारण, इन्द्रिय वर्ग वा जीव नहीं है अतः वह राक्षसों के योग्य है, काल का यह विपरीत गुण है जो ऐसे मांस के ढेर के कहने से वृद्धों की बुद्धि फिर जायगी । (तात्पर्य यह है कि शिशुपाल के कहने में यद्यपि सहदेव बाल है इसलिए निन्दा देखने में आती है किन्तु शिशुपाल जो मांस का ढेर है यदि उसका कहना वृद्ध मानलें तो सहदेव का कहना योग्य होने से उसकी स्तुति हो जाती है उसका ही कहना योग्य समझ वृद्धों ने माना है परन्तु शिशुपाल का नहीं) शिशुपाल अकेला ही सभा में, जचा त्यों विरुद्ध कहने लगा जिससे जताया है कि काल मेरे अनुकूल है, यह सभासदों का दूसरा दोष है ॥३१॥

आभास—पुनः स्ववाक्यश्रवणार्थं तान् स्तौति **यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा** इति ।

आभासार्थ—फिर सभासद मेरे वचन सुने इसलिए उनकी 'यूयं पात्र' श्लोक से स्तुति करता है।

श्लोक—**यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्धवं बालभाषितम् ।**
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्संमतोर्हणे ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे सभासदों ! आप सब पात्र के जानने वालों में उत्तम हैं, इस बालक का कहा मत मानों, भला यह कृष्ण अग्र पूजन के योग्य है ? नहीं । ॥३२॥

सुबोधिनी—'न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता' इति पात्रस्वरूपं ये जानन्ति ते **पात्रविदः** तेषां **श्रेष्ठाः** पात्रसूक्ष्मविदः अत एव **बालभाषितं** मम सहदेवस्य **माङ्गीकुरुत** बालवाक्येन पात्रनिर्द्धारो न कर्तव्यः। स्वबुद्धचैव कर्तव्यः। यतो यूयं **सदसस्पतयः** सभायां निवृत्तिप्रवृत्तिहेतवः तादृशा एव सर्वे भवन्त इत्यपि स्तुतिः। तादृशानामनुचितांशमाह **कृष्ण** इति। कृष्णशब्दो दुष्टमुखान्निर्गतः मालिन्ययोगान्मलिनमेव वक्ति तथैव शिशुपालाभिप्रायश्च। ततो योगात् तादृशः शिशुपाल एव भवति तादृशोयं यद्यस्मात् **अर्हणे** समीपे **संमतः** तिष्ठत्विति संमतः इदं सभासदामनुचितमित्यर्थः। यतो यज्ञे कालविलम्बो भविष्यति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—केवल विद्या वा तपस्या से भी योग्यता प्राप्त नहीं होती है इस प्रकार अधिकारी के स्वरूप को जो जानते हैं उनमें श्रेष्ठ आप अधिकारीपन की सूक्ष्मता को जानने वाले हैं इसलिए बाल का कहा हुआ अथवा मेरा कहा हुआ मत मानो, बालक के कहने से पात्र का निर्णय नहीं करना चाहिए, किन्तु आप अपनी बुद्धि से ही निर्णय करो, क्योंकि आप सब ही ऐसे हैं जो सभा में प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने के हेतु हैं यों कहना भी स्तुति ही है, अब सभासदों ने जो अनुचित कार्य किया, वह भाग कहता है कि 'कृष्ण' कृष्ण की पूजा में समीप रह सम्मति दिखाई यह अनुचित किया, कृष्ण यह नाम दुष्ट के मुख से निकलने के कारण मलीनता के संयोग ते मलीन ही निकलता है, यही शिशुपाल के कहने का सार है, अर्थात् शिशुपाल स्वयं काला मलिन है अतः उसने कृष्ण शब्द भी उसी भाव से कहा है, यों अनुचित कार्य सभासद करेंगे तो यज्ञ के कार्य में विलम्ब होगा ॥३२॥

आभास—ननु भवानपि क्षत्रियः सन्निहितबन्धुः ततश्च समीपस्थितौ को दोष इति चेत्तत्राह **तपो विद्याव्रतधरानिति** ।

आभासार्थ—आप भी क्षत्रिय हैं जिससे समीप वाला बान्धव है, इससे समीप रहने से कौनसा दोष है ? इस प्रकार की शंका का उत्तर 'तपो विद्या' श्लोक से देता है।

श्लोक—तपोविद्याव्रतधराञ्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।
परमर्षीन्ब्रह्मनिष्ठान्लोकपालैश्च पूजितान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—तपस्या, विद्या और व्रत्तधारी, ज्ञान से कल्मषों को नाश किए हुए और लोकपालों से पूजित तथा ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषियों का अतिक्रमण कर कुल कलङ्क कैसे पूजा जाता है ? ॥३३॥

सुबोधिनी—निन्दापक्षे लोकप्रसिद्ध एवार्थः **तपोविद्ययोः** पात्रलक्षण एव साधनं स्पष्टं **व्रत**स्यापि हेतुत्वम् 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। व्रतशब्दो नियमवाचकः। किंबहुना भगवद्व्रतपर्यंतं व्रतधारकाः अत्र सन्ति। पात्रगुणानुक्त्वा दोषाभावमाह **ज्ञानविध्वस्तकल्मषानिति** । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इतिवाक्यात् सर्वापेक्षया ज्ञानं पापनिवर्तकम्। एतावत्साधारणब्राह्मणेष्वपि संभवति यूयं तु **परमर्षयः** मन्त्रद्रष्टारः। अनेन पूर्वकाण्डप्रवर्तकत्वमुक्तम्। तत्रापि **ब्रह्मनिष्ठाः** उत्तरकाण्डस्य प्रवर्तकाः। लोके च तथात्वेन संमता इत्याह **लोकपालैश्च पूजितानिति**। लोकपालानामपि फलं दातुं शक्ताः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष का जब समर्थन किया जाता है तब लोक प्रसिद्ध अर्थ ही लिया जाता है, पूजन के योग्य पात्र में तपस्या और विद्या ये दो लक्षण होने चाहिए, वशिष्ठ स्मृति में कहा है कि 'आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः' आचारों से जो हीन है उसको वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, इससे व्रत अर्थात् नियम में रहने वाला ही पूजन के योग्य है यों बताया है, विशेष क्या कहा जाय यहाँ तो भगवान् के व्रत पर्यन्त व्रत धारण करने वाले यहां उपस्थित हैं, पात्र में जो गुण चाहिए वे दिखाकर अब उनमें दोषों का अभाव भी है यों दिखाता है, 'ज्ञानविध्वस्त कल्मषानिति' ज्ञान द्वारा सब दोष जिन्होंने भस्म कर दिए हैं जैसा कि गीता में कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणी' ज्ञान रूप अग्नि सर्व कर्मों को नाश कर देती है अर्थात् सर्व की अपेक्षा ज्ञान पाप को मिटाने में समर्थ हैं, इतना तो साधारण ब्राह्मणों में भी होता ही है, आप तो मन्त्रद्रष्टा महान् ऋषि हैं यों कह कर बताया है कि तुम पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) के प्रवर्त्तक हो, फिर विशेषता यह है कि पूर्वकाण्ड के प्रवर्त्तक होते हुए ब्रह्मनिष्ठ भी हो, अर्थात् उत्तर काण्ड के प्रवर्त्तक भी आप ही हैं, इस कारण से लोक में मान पात्र हुए हो, यों बताने के लिए कहता है 'लोक पालैश्च पूजितान्' लोकपालों को भी फल देने में समर्थ हो ॥३३॥

श्लोक—सदसस्पतीनतिव्रज्य गोपालः कुलपांसनः ।
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥३४॥

श्लोकार्थ—ऐसे योग्य लक्षण वाले सभा के स्वामी, बड़े ऋषिरूप सभासदों का उल्लङ्घन कर, इन्द्रियों के पोषक, कुलाधम जैसे कौआ यज्ञ के चरु के समीप रहने के भी योग्य नहीं है, वैसे यह भी पूजा के योग्य कैसे बन सकता है ? ॥३४॥

सुबोधिनी—एतादृशान् **सदसस्पतीन् अतिव्रज्येति**। अतिक्रमदोषोऽप्युक्तः। तेषामेव समीपे स्थितिरुचिता न ममेति तत्र हेतुत्वेन स्वदूषणान्याह **गोपाल** इति। **कुलपांसन** इति **यथा काक** इति च। पञ्च गुणाः सदसस्पतिषु। त्रयो दोषाः स्वस्य। इन्द्रियपालकः भूपालको वा क्षत्रियाधमः 'दशवैश्यासमो नृपः' इति दोषश्रवणात्। तत्रापि **कुलपांसनः** कुलाधमः येन चैद्यवंशः सर्वोऽपि निन्दितः। ते तु आसहस्राात्पङ्क्तिं पुनन्ति। किंच। **यथा काक पुरोडाशं** यदि कृष्णशकुनिरुपरि अतिपतेदिति सामीप्येऽपि दोषश्रवणात्। स बहिःस्थितमेव बलिमर्हति न तु वेद्यां स्थितं **पुरोडाशं** तत् सामीप्येऽपि हविषो नाशात्तथा अहं **सपर्यां** पूजां सामीप्येन कथमर्हामि। निन्दायां तु बाल्येऽन्यायवृत्तित्वं पश्चात्परस्त्रीहरणादिनाऽकीर्तिजनकत्वम्। यथा वा अकाकः पुरोडाशं नार्हति कं सुखमकं दुःखं उभयरहितः अकाकः शुकादितुल्यः स यथा **पुरोडाशं** कर्ममार्गं नार्हति तथा अहमपि **सपर्यां** नार्हामीत्यर्थः। वेदरक्षकः कुलपान् कुलपवित्रकरणदक्षान् कुलरक्षकान्वा असेन नयतीति सत्परिपालकत्वं निरूपितम्। भौतिककर्माध्यक्षत्वं च नार्हतीति भगवत्परत्वेऽपि केचिद्योजयन्ति तच्छब्ददुष्टत्वादुपेक्ष्यम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के सभा के स्वामियों का उल्लंघन करना यह अतिक्रम दोष हैं,

उनके समीप में मेरी स्थिति योग्य नहीं है, किन्तु सभासदों की ही पूजन के समीप स्थिति योग्य है। जिसमें कारण अपने दूषण कहता है 'गोपालः' 'कुल पांसनः' १–इन्द्रियों का पोषक हूं २–कुल कलंक हैं ३–कौए जैसा हूँ अर्थात् जैसे कौआ यज्ञ की बलि के पास रहने अथवा लेने योग्य नहीं वैसे मैं भी हूँ, इस प्रकार ये अपने ही दूषण प्रकट करता है, पांच गुण सभासदों के कहे और तीन दोष अपने कहे, आचार्य श्री इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि पृथ्वी की पालना करने वाला राजा यह दोष शिशुपाल में हैं, क्योंकि 'दश वेश्या समो नृपः' इस वाक्य के अनुसार राजा दश वेश्या के समान है, अतः पृथ्वीपालक क्षत्रियाधम शिशुपाल है, जिससे सारा चैद्यवंश निन्दा का पात्र हुवा है वास्तविक वे राजा लोग तो सहस्रों में पङ्क्ति को पवित्र करने वाले हैं, फिर जैसे कौआ यज्ञ की बलियों के समीप रहने के योग्य नहीं वैसे मैं भी पूजा के पास रहने के योग्य नहीं हूँ, कारण कि यदि कौआ यज्ञ बलि के ऊपर से उड़े तो भी दोष है क्योंकि ऊपर उड़ने से कौए की समीपता हो जाती है वह उचित नहीं हैं, वह तो दूर रह कर ही बलि के लेने के योग्य है समीप में रहने के योग्य नहीं कारण कि कौए के सामीप्य से बलि का नाश हो जाता है वैसे मैं भी पूजा के समीप रहने योग्य कैसे बन सकता हूं, श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष में 'गोपालः' 'कुल पांसनः' का भावार्थ यों है कि बचपन में तो अन्यायी व्यवहार पश्चात् पर स्त्रियों का हरण आदि अपकीर्ति के कार्य किये हैं।

अन्य प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हैं 'काकः' पद न लेकर 'अकाकः' पद लेते हैं जिसका अर्थ करते हैं कि 'कम्' सुख 'अकम्' दुःख ये दोनों जिसमें नहीं वह अकाक है, सुख दुःख जिसको नहीं वैसे शुक आदि हैं वे 'पुरोडाश' अर्थात् कर्म मार्ग के पास नहीं रह सकते हैं, वैसे मैं भी पूजन के समीप नहीं रह सकता हूं।

'गोपाल' पद का भावार्थ कहते हैं कि जो वेद रक्षक है और कुल पवित्र करने में प्रवीणों को अथवा कुल रक्षकों को कन्धे पर चढा कर ले जाते हैं वैसे श्रीकृष्ण गोपाल हैं, इस नाम से वास्तव में भगवान् को सत्पुरुषों के रक्षक कहा है अतः वैसे भगवान् भौतिक कर्म के अध्यक्षपन के योग्य नहीं हो सकते हैं, कितने ही इस प्रकार इन शब्दों को भगवत्परायण लगाते हैं वह भाव दोषयुक्त शब्द 'कुल पांसन' होने से उपेक्षा के योग्य है।।३४।।

आभास—पुनः स्वनिन्दार्थं दूषणान्तरमाह **ययातिनेति** ।

आभासार्थ—फिर अपनी निन्दा हो इसलिए कृष्ण की पूजा करने में दूसरा दूषण 'ययातिन' श्लोक से देता है।

श्लोक—**ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।**
वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ।।३५।।

श्लोकार्थ—इनके कुल को ययाति ने शाप दिया है और इनके कुल का सत्पुरुषों ने बहिष्कार किया है तथा यह कुल निरन्तर मदिरा पीने में लगा रहता है ऐसे कुल में उत्पन्न पूजन के योग्य कैसे हो सकता है।।३५।।

सुबोधिनी—ययातिना हि चत्वारः । पुत्रा निन्दिताः । एकः पूरुः स्तुतः । अथवा । **ययातीना एषां** पाण्डवानां **कुलं शप्तं** यत् पुत्रवयसा मातुः संभोगः कृतः । **स कथं** परंपरयापि दोषसंबन्धात् कथं पूतो भवेत् । अत एषां गृहे कथं भगवान् **सपर्यामर्हति** सद्भिश्च तेन वा हेत्वन्तरेण वा विगर्हितं **शश्वद्वृथापानरतं** च । एवमेतत्साधारणदूषणम् । तद्ययातिवंशोद्भवः **सपर्यां** समीपं वा **कथमर्हति** ।।३५।।

व्याख्यार्थ—ययति ने ४ पुत्रों की निन्दा की है केवल एक पुरु की प्रशंसा की है, अथवा ययाति ने इन पाण्डवों के कुल को शाप दिया है क्योंकि पुत्र के यौवन से माता के साथ सम्भोग हुआ है। वह जो परम्परा से दोषवान हैं वह पवित्र कैसे हो सकता है? अतः इनके गृह में उत्पन्न श्रीकृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है? सत्पुरुषों ने इस दोष के कारण अथवा अन्य किसी कारण से इस कुल का बहिष्कार किया है और यह कुल सदैव मदिरा पान में रत होने से निन्दित है, इस प्रकार यह साधारण दूषण है इसी कारण से ययाति वंश में उत्पन्न[1] हुआ कैसे पूजा के समीप आ सकता है ।।३५।।

आभास—कुलनिन्दाँ कृत्वा कुलोद्भवं निन्दति **वर्णाश्रमेति** ।

आभासार्थ—कुल की निन्दा कर अब कुल में उत्पन्न हुए की 'वर्णाश्रम कुलापेतः' श्लोक से निन्दा करता है।

श्लोक—**वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः**
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ।।३६।।

श्लोकार्थ—वर्ण, आश्रम और कुल से भ्रष्ट सर्व धर्मों से बहिष्कृत स्वच्छन्द आचरण करने वाला, गुणों से हीन यह कृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है? ।।३६।।

सुबोधिनी—वर्णा आश्रमाश्च चत्वारः **कुलं** क्षत्रियत्वजातिः एतत्त्रितयेनाप्यपेत भगवानेव वर्णाश्रमकुलरूप इति तदपेतः शिशुपाल इति तस्य तथात्वम् । **सर्वैरेव धर्मैर्भ**गवद्वैमुख्याद्**बहिष्कृतः** । ततः **स्वैरवर्ती** स्वैर्बन्धुभिः सह वर्तनशीलोऽपि न भवति अन्यथा स्नेहमेव कुर्यात् । अत एव **गुणैः** तपस्यादिभिर्विहीनः **सपर्यां** समीपं वा **कथमर्हती**त्यर्थः । केचिद्भगवत्पक्षेऽपि गुणातीति इति वर्णाश्रमकुलरहितत्वं देहाभावात्, धर्मराहित्यं इन्द्रियाभावात् स्वैरवर्तित्वं स्वेच्छा वर्तित्वं तेनान्तःकरणाभावश्चेति तेन त्रितयरहितः त्रितयसहितयोग्यसपर्यां कथमर्हतीत्याहुः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं और 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास चार आश्रम है एवं क्षत्रिय जाति कुल है, इन तीनों से भ्रष्ट (गिरे हुए) हैं, यद्यपि

१–शिशुपाल भी ययाति के पुत्र यदु के वंश में उत्पन्न हुआ है अतः वह पूजा के योग्य या समीप भी आने योग्य नहीं है।

शिशुपाल ने ये वाक्य श्रीकृष्ण के लिए कहे हैं, किन्तु वाणी सरस्वती उससे सत्य कहलाती है क्योंकि भगवान् स्वयं ही वर्ण, आश्रम और कुलरूप हैं अतः वह भ्रष्ट हो नहीं सकते, किन्तु शिशुपाल स्वयं तीनों से भ्रष्ट है यही वाणी ने सत्य कहा है क्योंकि शिशुपाल ही भगवान् से विमुख होने के कारण सर्व धर्म बहिष्कृत है भगवान् सर्व धर्म रूप होने से भ्रष्ट हो नहीं सकते। शिशुपाल ही स्वच्छन्द आचरण करने वाला है जिससे अपने बान्धवों से व्यवहार ही नहीं रखता है यदि व्यवहार करते तो प्रेम ही करता। इस कारण से ही गुणों से अर्थात् तपस्या आदि से रहित है, जिससे पूजा के योग्य कैसे हो सकता है एवं समीप भी कैसे रह सकता है? कितने ही इस श्लोक का भावार्थ यों भी कहते हैं कि भगवान् को देह नहीं हैं अतः गुणातीतपन एवं वर्णाश्रम कुलपन उनमें है ही नहीं अथवा हो नहीं सकता है। इन्द्रियों के न होने से कोई धर्म भी नहीं रह सकता है, अन्तःकरण के अभाव से स्वेच्छा से ही आचरण होता रहता है अतः तीनों से रहित, तीनों से लेने योग्य पूजा कैसे ग्रहण कर सकते हैं ॥३६॥

आभास—कुलस्वरूपनन्दे निरूप्य व्यवहारतो निन्दामाह **ब्रह्मर्षिसेवितानिति**।

आभासार्थ—कुल और स्वरूप की निन्दा कर 'ब्रह्मर्षि' श्लोक से व्यवहार की निन्दा करता है-

श्लोक—**ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम्।**
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—ये यादव ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को छोड़कर ब्रह्म तेज रहित मुद्रा वाले दुर्ग (समुद्र) का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजा को पीड़ा देते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—ननु को दोषो भवत्स्वित्याशङ्क्याह **एते** वयं **ब्रह्मर्षिसेवितान्** कुरुक्षेत्रादिदेशान् विद्याद्यर्थमनाश्रित्य **अब्रह्मवर्चसं समुद्रं** मुद्रासहितं पाखण्डमाश्रित्य **दस्यवो** भूत्वा **प्रजा बाधन्त** इति। अथवा। भगवत्सान्निध्यात् तान् स्तौति एते **ऋषयः ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान्** ज्ञानकर्मादिसहितान् **परित्यज्य ब्रह्मणोऽपि** वर्चो दीप्तिर्यस्मात् तादृशं **समुद्रं** मुद्रासहितं भगवन्तं चक्रपाणिं **दुर्गमाश्रित्य अदस्यवो** भूत्वा इन्द्रियादिद्वारा कस्यापि विषस्य ग्रहणमकृत्वा प्रकर्षेण जाताः इन्द्रियवृत्तीर्बलिष्ठाः **बाधन्त** इति भगवदाश्रयत्वादेव भवन्तः कृतार्था इति तेषां स्तुतिः समुद्रस्याब्रह्मवर्चस्त्व प्रदरत्वात् शप्तत्वात् 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इति वाक्यानुसारेण अब्रह्मवर्चस्विस्थित्या वा। वस्तुतस्तु भगवन्मोहितः क्रीडार्थं स्वीकृतानिवान्यधर्मान् स्वीकृत्य निन्दतीति स्वकीयस्यो-पालम्भ इव महत्त्वख्यापका स्तुतिरेव भवति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—आप में कौनसा दोष है? इस शङ्का का उत्तर देता है कि ये हम ब्रह्मर्षियों से सेवित कुरुक्षेत्र आदि देशों का विद्या आदि प्राप्त करने के लिए आश्रय न कर जिसमें ब्रह्मवर्चस आदि नहीं है ऐसे मुद्रा वाले पाखण्ड का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजाओं को पीड़ा देते हैं।

दूसरे प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् की वहां समीपता है अतः उन देशों की स्तुति करता है, ये ऋषि ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को अर्थात् ज्ञान

कर्म आदि सहित देशों का त्याग कर जिस समुद्र से ब्रह्म का भी तेज बढा है ऐसे समुद्र रूप दुर्ग का आश्रय किया है क्योंकि वहां चक्रपाणि भगवान् विराजते हैं उनका आश्रय प्राप्त हो गया है जिससे इन्द्रियादि द्वारा किसी भी विषय का ग्रहण होना नष्ट हो गया है इससे वे साधु बन गए हैं क्योंकि बलिष्ठ इन्द्रियों की वृत्तियों को बान्ध लिया है, भगवान् के आश्रय लेने से हो आप कृतार्थ हो गए हैं, इस प्रकार उनकी स्तुति की है अन्य प्रकार से समुद्र का अब्रह्मवर्चस् बताते हैं कि वह (समुद्र) एक प्रकार का गड्ढा है और उसको शाप मिला हुआ है अथवा 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इस श्रीमद्भागवत के वाक्य अनुसार समुद्र के तट से चन्द्रभागा नदी के तट तक के देश को शुद्र भोगेंगे, अतः वहां ब्रह्मतेजरहितों की स्थिति होने से वह ब्रह्मतेज हीन है, वस्तुतः भगवान् मे मोहित शिशुपाल भगवान् ने जो गुण क्रीड़ा के लिये ग्रहण नहीं किये हैं तोभी दूसरों के गुणों को भगवान् से गुण मान निन्दा करता है, इस प्रकार करने का सार यह निकलता है कि अपने को उलाहना देने की तरह भगवान् की वह निन्दा, महत्ता प्रकट करने वाली स्तुति ही हो जाती है ॥३७॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **एवमादीनीति**।

आभासार्थ—पीछे से जो हुआ वह 'एवमादीन्य' श्लोक में कहता है

श्लोक—**एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः।**
नोवाच किंचिद्भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उस क्षीण पुण्य शिशुपाल ने ऐसे बहुत से बुरे वचन कहे किन्तु जैसे सिंह श्यारिनी का शब्द सुनकर नहीं गर्जता है वैसी ही भगवान् शान्त रहे उनने कुछ नहीं कहा ॥३८॥

सुबोधिनी—**अभद्राण्य**मङ्गलवाक्यानि अन्तर्मङ्गलस्य नष्टवात् 'यद्धि मनसा ध्यायति' इति वाक्याच्च अमङ्गलवाक्यान्येवोक्तवान्। तदा **भगवानप्येतच्छ्रुत्वा न किंचिदुवाच**। प्रतीकारार्थं कायिकं वाचिकं वा न संपादितवान्। तूष्णींभावो वधानुकल्प इति केचित्। अवगणनायाः कृतत्वात्। 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' इति वस्तुतस्तु। धर्मे तद्वाक्यानां बाधकत्वाभावात् कुबुद्धिरयमित्युपेक्षितः। ननु वाग्बाणाः बाणापेक्षया परुषाः इति कथमुपेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा सिंह** इति। न हि शृगालशब्दे सिंहसमीपेऽपि जायमाने सिंहनिन्दारूपोर्थोऽस्ति अभिमानेन कल्पयित्वा तं च सदृशीकृत्यान्य एव शृगालः शब्दं करोति न तु सिंहः सिंहतुल्यो सिंहपदेन मारको निरूप्यते वर्णविपर्ययात् अतो मारयिष्याम्येवैनम्। किं वाचनेनेति तूष्णींस्थितः। नापि तदुक्ता धर्मा भगवति सन्ति येन मर्मभेदः स्यात्। नापि निन्दितानर्थान् भगवान् परिगृह्णाति येन निन्दके क्रोधः स्यात्, अतो भ्रान्तवाक्यादुपेक्ष्यमेव ॥३८॥

व्याख्यार्थ—शिशुपाल के भीतर से पुण्य नष्ट हो गए थे, जिससे अमङ्गल का ही मन में ध्यान कर रहा था, अतः 'यद्धि मनसा ध्यायति' इस वाक्य के अनुसार अमङ्गल ही बोलने लगा, तोभी भगवान् वे वचन सुनकर भी कुछ बोले नहीं उसका बदला लेने के लिए शरीर अथवा वाणी से कोई उपाय नहीं किया, कितने ही यों कहते हैं कि भगवान् ने जो मौन धारण कर कुछ नहीं किया, यह भी एक

प्रकार का वध ही है, क्योंकि यह उसका तिरस्कार किया जो वध के ही समान है 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' अपने द्रोह होने पर वध जैसा कार्य भी वध ही है, वास्तव में तो उसके वाक्य धर्म में बाध करने वाले नहीं थे, भगवान् ने इसको कुबुद्धि जान इसकी उपेक्षा की है, वाणी के बाण जब लोहे के बाणों से भी कठोर होते हैं तब उनकी उपेक्षा कैसे की ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाता है कि जैसे जहां शृगाली का शब्द होता है वहां सिंह बोलता ही नहीं है, उसकी उपेक्षा ही करता है वैसे ही भगवान् ने भी किया, शृगाल का शब्द समीप भी होता हो तो भी सिंह की निन्दा करने के अर्थ वाला नहीं है। सिंह अपनी शक्ति के अभिमान से यों ही समझता है कि यह शब्द सिंह का तो है ही नहीं कोई शृगाल शब्द करता है अथवा सिंह जैसा कोई शब्द करता है, सिंह पद से इसका अर्थ मारने वाला वर्ण के बदलने[1] से हो जाता है, इसको मैं मारूंगा यों कहने से क्या लाभ ? अतः मौन धारण करना उत्तम है, उसने जो निन्दा के योग्य धर्म भगवान् में आरोपित किए वे तो उनमें है ही नहीं जिनसे भगवान् को दुःख हो वा उनके मर्म स्थानों को चोट लगे, क्योंकि आपनिन्दित विषयों को ग्रहण भी नहीं करते हैं, जिससे निन्दा करने वाले पर क्रोध करे, अतः ये वाक्य कहने वाला भ्रान्त[2] है इसलिए उपेक्ष्य ही है ॥३८॥

आभास—अन्ये पुनर्बहिर्मुखाः भगवन्निन्दनमेतदिति मत्वा तच्च स्वस्य निरुद्धत्वान्न श्रोतव्यमिति शापं दत्त्वा गतवन्त इत्याह **भगवन्निन्दनं श्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—फिर दूसरे बहिर्मुख सभा छोड़ गये, क्योंकि शिशुपाल के कहे हुए वचनों में भगवान् की निन्दा है, वह अपने विचारों के विरुद्ध हैं इसलिए सुनने योग्य नहीं, इसलिए शिशुपाल को शाप देकर चले गए यों 'भगवन्निन्दनं' श्लोक में कहता है

श्लोक—**भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ।**
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥

श्लोकार्थ—असह्य भगवान् की निन्दा सुनकर, सभासद, कानों को बन्द कर क्रोध से शिशुपाल को शाप देते हुए सभा से बाहर चले गये ॥३९॥

सुबोधिनी—तत्तु **दुःसहं** कर्णयोरपि कठिनं निन्दासहितसभायां ये स्थिताः **ते कर्णौ** स्वस्य **पिधाय चेदिपं** शिशुपालं **रुषा शपन्तो निर्जग्मुः** ॥३९॥

व्याख्यार्थ—वह (अपकर्ष अर्थात् तिरस्कार के वचन) तो कानों को भी कठोर लगने से सहने योग्य नहीं है, ऐसी निन्दा वाली सभा में जो सभासद बैठे थे वे अपने कान बन्द कर, शिशुपाल को क्रोध से शाप देते हुए चले गए ॥३९॥

१-सिंह=हिंस=हिंसा करने वाला २-भ्रम में पड़ा हुआ है

आभास—एवं करणे धर्म इत्याह **निन्दां भगवतः शृण्वन्निति** ।

आभासार्थ—'निन्दां भगवतः' श्लोक में कहते हैं कि यों करना धर्म है—

श्लोक—**निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।**
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः स्वकृताच्च्युतः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् की तथा भगवत्परायण मनुष्य की निन्दा सुनता रहता है वहां से बाहर नहीं होता है, वह भी पुण्य से भ्रष्ट हो अधोगति को प्राप्त होता है ॥४०॥

सुबोधिनी—अपकर्षवाक्यं **निन्दा** । येनैव वाक्येन भगवत्यपकर्षप्रतीतिर्भवति तन्न श्रोतव्यं तथा भगवद्भक्तस्य **जनस्य** अपकर्षप्रतीतिर्भवति, **जनस्येति** साधारणस्यापि । ततः **कर्णौ पिधाय नापयति सोऽपि स्वकृताच्च्युतः** सन्नधो याति । भगवदुत्कर्षज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि प्रयत्नः तदपकर्षे हृद्यागते विपरीतं जातमिति स्वकृतस्य धर्मस्य वृथानाशात्स्वयं विपरीतज्ञानादधो याति । इदमशक्तविषयम् । शक्तानां तु धर्मश्चतुर्थे प्रतिपादितः । 'छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वाम-सूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः' इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—तिरस्कार के वचनों को 'निन्दा' कहते हैं, जिस वाक्य से भगवान् में अनादर की प्रतीति होवे वह नहीं सुनना चाहिए, वैसे ही भगवद्भक्त के तिरस्कार की जिस वाक्य से प्रतीति हो वह भी नहीं सुनने चाहिए, चाहे वह मनुष्य साधारण भी हो तो भी जो वहां से कान बन्द कर चला नहीं जाता है वह भी अपने पुण्यों से गिर कर अर्थात् पुण्यों को क्षय कर अधोगति को प्राप्त होता है। प्रत्येक यह ही प्रयत्न करता हैं कि, भगवान् के उत्कर्ष का ज्ञान होवे, यदि भगवान् का तिरस्कार हृदय में आ जाये तो विपरीत गति हो जाती है। इस प्रकार अपने किए हुए धर्म का वृथा नाश हो जाने से तथा विपरीत ज्ञान होने से स्वयं अधोगति प्राप्त करता हैं जो अशक्त हैं उनके विषय में यों कहा है। जो शक्त है उनके लिए भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में प्रतिपादन किया है कि जिसमें शक्ति होवे वह निन्दारूप क्लेश करने वाली दुष्ट जिह्वा को काट डाले, हो सके तो प्राणों को भी त्याग दे, किन्तु भगवान् की निन्दा न सुने, यह धर्म है ॥४०॥

आभास—पाण्डवास्तु मर्तुं मारयितुं च समर्था इति तन्मारणार्थं प्रवृत्ता इति **ततः पाण्डुसुता** इति ।

आभासार्थ—पाण्डव तो मरने और मारने की शक्ति वाले थे, इसलिए वे उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, यों 'ततः पाण्डुसुताः' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।**
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया ॥४१॥

श्लोकार्थ—फिर पांडु पुत्र मत्स्य, कैकय और सृञ्जय क्रोध कर शस्त्र उठाके

शिशुपाल को मारने की इच्छा से उठ कर खड़े हो गए ।।४१।।

सुबोधिनी—पितृनाम्ना शूरत्वाय व्यपदेशः । आदौ **क्रुद्धाः** अन्यथा मातृभगिनीपुत्रत्वात्स्नेहः प्रतिबन्धको भवेत् । **मत्स्या** विराटवंशोद्भवाः, **कैकयाश्च** भरतपूर्वजा वैष्णवाः, **सृञ्जयाः** द्रुपदवंशजाः । एते चतुर्विधा अपि **उदायुधाः समुत्तस्थुः** । स्वमरणसंदेहं वारयति **शिशुपालजिघांसयेति** ।।४१।।

व्याख्यार्थ—ये शूरवीर हैं यों जताने के लिए उनके पिता के नाम से बताए हैं, आरम्भ में ही क्रोध किया, नहीं तो मासी के पुत्र होने से उसके मारने में स्नेह रुकावट होता, विराट वंश में उत्पन्न 'मत्सय' थे भरत के पूर्वज 'कैकय' वैष्णव थे, द्रुपद वंश में उत्पन्न हुवे सृञ्जय थे, ये चारों ही शस्त्र उठा के खड़े हो गए, अपने मर जाने का उनको संशय ही नहीं था, इसलिए कहा है कि शिशुपाल को मारने की इच्छा से शस्त्र ले खड़े हो गए ।।४१।।

श्लोक—**ततश्चेद्यस्त्वसंभ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।**
भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान्राज्ञः सदसि भारत ।।४२।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! तब शिशुपाल हाथ में ढाल तलवार लेकर निडर हो श्रीकृष्ण के पक्ष वालों को सभा में झिड़की बताते हुए कहने लगा ।।४२।।

सुबोधिनी—शिशुपालोऽपि क्रियाशक्तौ सर्वाधिक इति 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इति पाण्डववधार्थम**संभ्रान्तो** भूत्वा **खड्गचर्मणी जगृहे** ततोऽन्यैः अनुचितं क्रियत इत्युक्तः तान् **निर्भर्त्सयन् कृष्णपक्षीया** एते इति साक्षाद्वधसाधनं गृहीतवान् । स्वस्य च रक्षासाधनं **राज्ञः सदसि** इति नात्र ब्राह्मणशापशङ्केति सूचितम् । **भारतेति** विश्वासार्थम् ।।४२।।

व्याख्यार्थ—शिशुपाल भी क्रिया शक्ति में सबसे अधिक था, इसलिये "जो मारने आवे उसको मारना ही चाहिए", इस नीति वाक्य के अनुसार उस (शिशुपाल) ने पाण्डवों को मारने के लिए बिना भय के अर्थात् निडर हो हाथ में ढाल और तलवार लेली । चेद्यने यों किया तब उसको दूसरों ने कहा कि तूँ यह कार्य अनुचित करता है, जिसके उत्तर में उसने समझा कि ये भी श्रीकृष्ण के पक्ष वाले हैं अतः उनको झिड़की देते हुए साक्षात् वध के साधन ग्रहण किए और अपनी रक्षा के साधन भी लिए, राजा की सभा में ऐसा बोला और किया । इससे यह बतलाया कि उसको ब्राह्मण के शाप का भय नहीं था, हे भारत ! सम्बोधन परीक्षित को विश्वास कराने के लिए दिया है ।।४२।।

आभास—ततो भगवान् एनं तदपेक्षया बलिष्ठं मत्वा अमोघवीर्यं च स्वार्थं यतन्तं इति 'भक्तद्रोहे वधः स्मृतः' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **तावदुत्थायेति ।**

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यह शिशुपाल पाण्डवों से बलवान है और इसका पराक्रम निष्फल होने वाला नहीं है, ये पाण्डव तो मेरे लिए प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि मेरे भक्त हैं,

यह शिशुपाल मेरे भक्तों का द्रोह करता है, शास्त्रों में कहा है कि जो भक्त का द्रोह करे उसका वध करना चाहिए जैसे कि 'भक्त द्रोह वधः स्मृतः' इस शास्त्रानुसार भगवान् स्वयं शिशुपाल के मारने में प्रवृत्त हुए, यह 'तावदुत्थाय' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।**
शिरःक्षुरान्तचक्रेण चिच्छेदापततो रिपोः ।।४३।।

श्लोकार्थ—जब तक शिशुपाल पाण्डवों पर प्रहार करे तब तक न रुक कर आप उठ कर खड़े हो गए और अपने भक्तों को रोक लिया, फिर क्रोध से छुरे के समान धार वाले चक्र से दौड़कर आते हुए शत्रु का शिर काट डाला ।।४३।।

सुबोधिनी—भगवत्वात्स्वस्य पूर्णा शक्तिः अत एव **स्वान्** भक्तान् **निवार्य स्वयं चक्रेण शिरश्चिच्छेद** । सोऽपि भक्तः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कायामाह **रुषेति** । भगवद्द्रोषधर्मेण स मारितः भगवद्भक्तेषु तस्य रोषजननात् तत्रापि शिरश्चिच्छेद । येन मार्गेण सा वाङ्निर्गच्छति । अलौकिकेन भगवत्सामर्थ्येन स मारित इति शङ्काव्यावृत्यर्थमाह **क्षुरान्तेति** । क्षुरान्तवत्तीक्ष्णेन । तथा सति लोके भगवन्माहात्म्यं न स्यात् । साधनोत्कर्षस्तु कर्तुर्नापकर्ष संपादयति । **आपततो रिपोरिति** तस्यापराधो वधहेतुरुक्तः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण आप भगवान् होने से पूर्ण शक्ति सम्पन्न हैं, अतः अपने सेवकों को रोक कर स्वयं (खुद) शिशुपाल के शिर को चक्र से काट डाला ।

वह भी आपका ही सेवक है तो उसका शिर कैसे काटा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रुषा' क्रोध आने से । भगवान् को क्रोध क्यों हुआ ? शिशुपाल ने अपने कार्य से भगवद्भक्तों में क्रोध उत्पन्न किया । अतः भगवान् के क्रोध गुण ने उसको मारा, उसमें भी जिस स्थान से ऐसी दुष्टवाणी निकली थी वह दोष वाला शिर ही काट डाला, अलौकिक भगवत्सामर्थ्य से वह मारा गया, ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए कहा है कि छुरे की धार के समान तीक्ष्ण चक्र से शिर काटा ।

यों करने से लोक में भगवान् का महात्म्य न बढेगा, कार्य करने के जो उत्कृष्ट साधन हैं, उनसे कार्य करने पर, कार्यकर्ता का अपकर्ष नहीं होता है । शत्रु भक्तों को मारने के लिए दौड़ता आ रहा था, यह उसका अपराध था, यह अपराध ही उसके मारे जाने का कारण बना ।।४३।।

श्लोक—**शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान् ।**
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ।।४४।।

श्लोकार्थ—शिशुपाल के मरने पर महान् शब्द और कोलाहल हुआ और उसके अनुयायी राजा जो जीना चाहते थे वे भाग गए ।।४४

सुबोधिनी—ततस्तद्वधे **महान् शब्दो** जातः । **कोलाहलश्च** सर्वैः कृतः । **शिशुपाले** हत इति निमित्तं अनायासेन तन्म।रणं चोक्तम् । ततस्त-त्पक्षपातिनः दैत्यांशाः सर्व एव जीवरक्षार्थं युद्ध-मकृत्वैव जीवनार्थं दुद्रुवुः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर उसके वध से महान् शब्द हुआ और सबने कोलाहल किया, शिशुपाल के मरने पर, यों होने का यह निमित्त कारण था और इसका मारना अनायास हुआ है यों कहा है पश्चात् उसके पक्षवाले सब दैत्यांश अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध न कर यों ही भाग गए ।४४॥

आभास—एवं धर्मार्थं तस्य वधं निरूप्य स चेज्जीवो न मुक्तो भवेत्तदा स्मशानत्वं तस्य स्थानस्य भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं मुक्तिमाह **चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म के लिए उसके वध का निरूपण किया यदि वह न मरता, जीता रहता तो, मुक्त न होता, जिससे उसका स्थान स्मशान ही होता । उसके दोष परिहार के लिए उसको मुक्ति कही जाती है "चैद्यदेहोत्थितं" इस श्लोक में

श्लोक—**चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।**
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

श्लोकार्थ—आकाश से गिरी अग्नि जैसे पृथ्वी में समा जाती है वैसे ही प्राणियों के देखते हुए शिशुपाल की देह से उत्पन्न ज्योति वासुदेव में प्रविष्ट हो गई ॥४५॥

सुबोधिनी—हृदये स्थितं जीवाख्यं **तज्ज्योतिः** भगवदिच्छया सहजक्रियायुक्तं **वासुदेवं** मोक्ष-दातारमुपाविशत् । भगवत्पादयोः प्रविष्टं वैकुण्ठात्मकं तत्पुनर्लोकाय अन्तिकमित्यादिपदैः व्यापिवैकुण्ठस्यैव निरूपणम् । अन्यथा कृत्रिम-वैकुण्ठात्त्याजनं व्यर्थं स्यात् । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य' इति न्यायात् । एतदन्यथानुपपत्त्यैव आराग्रजीवपक्ष एव मुख्य इत्यङ्गीकर्तव्यम् । सात्त्विकशरीरांशशेषेणेति मतमसङ्गतं ज्योति-रिति वाक्यात् । अन्यत्रात्मज्योतिःप्रकाराच्च 'गृही-त्वैतानि संयाति' इति वाक्यात्तस्य सहजक्रियापि सिद्धा केवलजीवस्य यथैतादृशं रूपं सिद्धयति तथोपपादितं **निबन्धे** । 'पश्यतां सर्वभूतानाम्' इति । सायुज्ये प्रमाणमुक्तं जीवस्वरूपनिर्धारश्च । प्रवेशः सर्वैर्न दृष्ट इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **उल्केव** इति । निर्गमनप्रवेशनयो। तस्यादर्शनं खात् आकाशाच्च्युता ॥४५॥

व्याख्यार्थ—हृदय में स्थित 'जीव' नाम की प्रसिद्ध वह ज्योति जो भगवदिच्छा से सहज क्रिया से युक्त है, वह मोक्ष देने वाले वासुदेव में प्रविष्ट हो गई । वह भगवान् का चरण वैकुण्ठ रूप है, 'पुनर्लोकाय अन्तिकं' भगवान् के समीप, इन शब्दों से व्यापि वैकुण्ठ ही कहा है । यदि उसमें प्रवेश कराना न होता तो, 'प्रक्षालनाद्धि, पङ्कस्य' इस न्यायानुसार कीचड़ में पैर डाल फिर धोना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही यह भी होता, अर्थात् कृत्रिम वैकुण्ठ से निकालना व्यर्थ होता । इसकी दूसरी तरह (जीव व्यापक) है । उपपत्ति न होने से ही, सुई के अग्रभाग समान जीव है यह पक्ष ही मुख्य है जो अङ्गीकार करना चाहिए ।

शरीर के शेष सात्विक अंश से उसने भगवान् में प्रवेश किया यह मत असंगत है क्योंकि वहां 'ज्योति' पद कहा है, अन्य स्थानों पर भी 'जीव' को तेज का प्रकार कहा है और 'वह जीव 'गृही-त्वैतानि संयाति' इन्द्रियों को साथ लेकर जाता है, यों कहने से वह क्रिया भी करता है यह सिद्ध होता हैं । जीव का ऐसा ही रूप होता हैं जिसका वर्णन निबन्ध में किया है कि सब सभासदों के देखते हुए, यह सायुज्य में प्रमाण है और जीव के स्वरूप का भी निर्णय किया है, प्रवेश सबने न देखा, इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि आकाश से गिरी अग्नि (बिजली) जैसे पृथ्वी में लीन हो जाती है वैसे वह भी हुआ ॥४५॥

आभास—एवं निःशङ्कप्रवेशमुक्त्वा भगवन्निन्दाकर्तुः कथं सायुज्यमिति शंकां वारयति **जन्मत्रयेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार शिशुपाल का भगवान् में निःशङ्क प्रवेश कहकर अब भगवान् की निन्दा करने वाले को सायुज्य मुक्ति कैसे मिली ? इस शङ्का का 'जन्मत्रय' श्लोक से निवारण करते हैं

श्लोक—**जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरम्भया धिया ।**
ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—तीन जन्मों में बार बार होने वाले बैर के कारण जो क्रोधवाली हुई बुद्धि उससे नित्य भगवान् का ही ध्यान कर रहा था जिससे भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हुआ, कारण कि भाव ही जन्म का कारण है ॥४६॥

सुबोधिनी—वैकुण्ठात्पतितस्य हिरण्यकशिपु-रावणशिशुपाललक्षणं **जन्मत्रये अनुगुणितमा** वर्तितं **यद्वैरं** अपकारवधादिना तेन यः **संरम्भः** क्रोधसंरम्भः तद्युक्तया **धिया** वैरबुद्धया तं भग-वन्तं **ध्यायन् तन्मयतामेव यातः** । तेन पेशस्का-रिवत् भगवद्धयानेन भगवद्रूपो भूत्वा भगवति सायुज्यं प्राप्तवान् । अन्यथा जीवभावे भगवति स्थितजगत इव न सायुज्यं स्यात् । तस्मादिदं भगवद्रूपेण जन्म, तत्र कारणं **भाव** एव निरन्तर-स्मरणमेव । यमेवार्थं निरन्तरं स्मरति स एव भवति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण शाप के कारण वैकुण्ठ से गिरे हुए का तीन जन्म, १-हिरण्यकशिपु २-रावण और ३-शिशुपाल इन तीनों जन्मों में बराबर जो वैर होता आया, जिससे अपकार और वध आदि जो हुए, उनसे उत्पन्न क्रोध वाली बुद्धि से उन भगवान् का ही ध्यान करते हुए उनके स्वरूप को ही पाया, जैसे भमरी ध्यान करती तद्रूप हो जाती है वैसे ही इसने भी भगवान् का ध्यान करते हुए भगवान् से सायुज्य प्राप्त कर लिया, यदि यों ध्यान न करता, तो जीव भाव में रहते हुए तो जैसे जगत् भगवान् में स्थित है वैसे ही रहता, किन्तु सायुज्य को प्राप्त न करता, इस प्रकार सायुज्य प्राप्त करने का कारण अर्थात् भगवद्रूप हो जाने का कारण 'भाव' ही, अर्थात् निरन्तर स्मरण ही है, जिस अर्थ को सदैव स्मरण करता वही रूप होता है ॥४६॥

आभास—एवं प्रसंगात् दोषनिवृत्तिं मोक्षं च निरूप्य प्रारब्धं यागं शिष्टं निरूपयति **ऋत्विग्भ्य** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रसङ्ग के कारण दोष निवृत्ति और मोक्ष का निरूपण कर 'ऋत्विग्भ्य श्लोक से प्रारम्भ किये हुए यज्ञ का रहे हुए भाग का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।**
सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ।।४७।।

श्लोकार्थ—ऋत्विज और सभासदों को बहुत दक्षिणा दी, विधि के अनुसार सबकी पूजा की, अनन्तर चक्रवर्ती राजा ने अवभृथ (यज्ञान्त स्नान) किया ।।४७।।

सुबोधिनी—ततो **ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां** ततः **सदस्येभ्यः** यावन्तो वै सदस्या इति सर्वेभ्य एव । **विपुलां** वाञ्छितादप्यधिकां**मदात्** । ततः सवनत्रयानन्तरं साद्यस्क्रद्विरात्रसत्रानन्तरं **सर्वानेव** देवान् यज्ञभागभुजः तत्तत्स्थाने संपूज्य लौकिकानपि दानमानादिभिः । ततोऽवभृथस्नानं कृतवान् । **एकराडिति** एकराज्यं तस्य सिद्धमिति यागफलस्यानुवादः ।।४७।।

व्याख्यार्थ—अन्त में ऋत्विजों को दक्षिणा दी और जितने सदस्य थे उन सबको भी दक्षिणा दी । जितनी दक्षिणा वे चाहते थे उससे भी अधिक दक्षिणा दी । पश्चात् तीन प्रकार के तर्पण को कर, शीघ्र होने वाले और दो दिन होने वाले बलिदान को करने के बाद, यज्ञ के भाग का भोग करने वाले सबही देवों की उनके स्थानों पर पूजा की, पश्चात् लौकिक पुरुषों का भी दान मान से सत्कार किया, इत्यादि यज्ञ की सर्व क्रिया पूर्णकर पश्चात् महाराजा ने यज्ञान्त स्नान किया यों करने से युधिष्ठिर चक्रवर्ती हुए 'चक्रवर्ती होना यह यज्ञ का फल है,' अर्थात् युधिष्ठिर को यज्ञ का फल प्राप्त हो गया ।।४७।।

आभास—एवं सफलं यागमनूद्य भगवतैवैतत्सर्वं कृतमिति भगवच्चरित्रमुक्त्वा उपसंहरन् भगवतः प्रयाणमाह **साधयित्वेति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इसी तरह यज्ञ फलीभूत हुआ यह कह कर कहते हैं कि यह सफलता भगवान् ने ही की है, इस प्रकार भगवान् के चरित्र कहकर विषय का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए भगवान् के पधारने का समाचार 'साधयित्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**साधयित्वा ऋतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।**
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ।।४८।।

श्लोकार्थ—महाराजा के यज्ञ को सम्पूर्ण सिद्ध कर योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण मित्रों के आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति करने पर कुछ मास वहाँ विराजमान हुवे ।।४८।।

सुबोधिनी—**राज्ञः क्रतुं** राजसूयं **साधयित्वा कृष्णः** फलात्मापि साधनसाधनत्वेन स्वविनियोगं कारयित्वा संमोहनमुत्पाद्य यथा न ज्ञातं तथा योगं **साधयित्वा योगेश्वराणामपीश्वरो दुर्ज्ञेयः** । योगचर्या दुर्ज्ञेयेति सिद्धेऽपि यागे ते स्वात्मानं न ज्ञास्यन्तीति निश्चित्य कौतुकार्थमज्ञैः **सुहृद्भिरभियाचितः** सन् **कतिचिन्मासानुवास** ।।४८।।

व्याख्यार्थ—राजा के राजसूय यज्ञ को सफल कराकर, श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप होते हुए भी आपने साधन के साधन रूप बनकर बहुत मोह उत्पन्न किया, जैसे कोई न जान सके वैसा योग साध कर वहाँ रहे, योगेश्वरों के भी ईश्वर को कोई जान नहीं सकता है । योग की गति जानी नहीं जावे ऐसी है, यों यज्ञ की सिद्धि हो गई तो भी वे पाण्डव मुझे पहचान नहीं सकेंगे, वैसा निश्चय कर, अज्ञानी मित्रों ने कौतुक के लिए यहां रहने की प्रार्थना की, अतः कितनेही मास भगवान् वहाँ विराजे ।।४८।।

श्लोक—**ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।**
ययौसभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ।।

श्लोकार्थ—पश्चात् भगवान् पधार जावे ऐसी इच्छा राजा की नहीं थी तो भी उससे सम्मत्ति लेकर, ईश्वर, देवकी के पुत्र, पत्नियों और मन्त्रियों सहित अपने नगर पधारे ।।४९।।

सुबोधिनी—**ततो** लीलान्तरं कर्तुं **राजानमनुज्ञाप्य** स्नेहवशा**दनिच्छन्तमपि ईश्वर**त्वात्स्वातन्त्र्यमलम्ब्य यथागतं **सभार्यः सानुगामात्यः स्वपुरं ययौ** । ननु भगवत्कार्यं किमपि न सिद्धं महत्या संभृत्या किमित्यागतः किमिति गत इत्याशङ्क्यायामाह **देवकीसुत** इति । भक्तवात्सल्येन देवक्याश्च पुत्रो जातः तथेदमपि कृतवानित्यर्थः ।।४९।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्य लीला करने के लिए, स्नेह के कारण जाने देने की इच्छा वाला राजा न था तो भी, ईश्वर होने से अपनी स्वतन्त्रता का अवलम्बन कर राजा से सम्मति लेली, जैसे इन्द्रप्रस्थ पंधारे थे उसी तरह पत्नियों और अमात्यों (मन्त्रियों) सहित अपने नगर को पधारे ।

भगवान् का कार्य तो कुछ भी सिद्ध न हुआ, बड़ी शान शोकत (दबदबे) से किस लिए आये, किस लिए लौट गये ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'देवकी सुतः' देवकी के पुत्र हैं, भक्तों पर प्रेम होने से जैसे देवकी के पुत्र बने वैसे यह कार्य भी किया ।।४९।।

आभास—उपसंहरति **वर्णितं तदुपाख्यानमिति** ।

आभासार्थ—'वर्णितं तदुपाख्यानं' श्लोक से विषय को सम्पूर्ण करते है ।

श्लोक—**वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।**
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ।।५०।।

श्लोकार्थ—वैकुण्ठवासी दो पार्षदों का जन्म, ब्राह्मणशाप से बार बार हुआ है, वह कथा तुझे बहुत विस्तार से मैंने कही है।

सुबोधिनी—नन्वत्र शिशुपालस्य स्वरूपं न सम्यगुक्तं तदकथने कथा न रसवतीत्याशङ्क्याह **मया** पूर्वमेव **वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः** | **पुनर्जातमिति बहुविस्तारं** यथा भवति तथा तस्य शिशुपालस्योपाख्यानं **मया वर्णितं** तृतीये सप्तमे च ।।५०।।

व्याख्यार्थ—यहाँ शिशुपाल का स्वरूप पूर्ण रीति से नहीं कहा है, यों न कहने से कथा रस वाली नहीं हुई है? इस शंका के उत्तर में कहा है कि मैंने प्रथम ही वैकुण्ठ वासियों का जन्म ब्राह्मण शाप से बार बार हुवा है यह प्रसंग बहुत विस्तार से तृतीय और सप्तम स्कन्ध में (शिशुपाल चरित्र) सुना दिया है ।।५०।।

आभास—ततो राज्ञः सर्वपापक्षये महती शोभा जातेत्याह **राजसुयावभृथ्येनेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार यज्ञादि सत्कर्म करने से राजा के सर्व पाप नष्ट हो गए जिससे उसकी बहुत शोभा हुई, जिसका वर्णन 'राजसूयावभृथ्येन' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः।**
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ।।५१।।

श्लोकार्थ—राजसूय यज्ञ के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सकल पाप नष्ट हो गए जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों की सभा में वह इन्द्र के समान शोभा पाने लगा ।।५१।।

सुबोधिनी—**राजसूयस्य आवभृथ्यम**वभृथकर्म तत्र **स्नातो राजा** सर्वपापक्षये जाते **ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये** सर्वेभ्यः अधिकं **शुशुभे**। समानजातोयोऽपि ब्राह्मणाद्धीनोऽपि सर्वोत्कर्षेण भात इत्यत्र दृष्टान्तमाह **सुरराट्** देवेन्द्र **इवेति**। ।।५१।।

व्याख्यार्थ—राजसूय के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सर्व पाप क्षय हो गए, जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के सभा में वह शोभा पाने लगा। क्षत्रियों से जाति में समान होते हुए भी और ब्राह्मणों से छोटा अर्थात् हलका होते हुए भी, सबसे अधिक शोभा पाने लगा जैसे इन्द्र सभा में शोभता है ।।५१।।

—आभास—राजसूयस्य साङ्गस्य फलमनूद्य प्रत्यापत्तिं वदन् सर्वेषां राज्ञां प्रतियानमाह **राज्ञा सभाजिता** इति।

आभासार्थ—अंग सहित पूर्ण हुए राजसूय यज्ञ का फल कह कर लौट कर जाने वाले राजाओं के प्रयाण का प्रकार 'राज्ञा' श्लोक में बताते हैं।

श्लोक—**राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः।**
कृष्णं ऋतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ।।५२।।

श्लोकार्थ राजा से देवता, मनुष्य और आकास में विचरने वाले सब सत्कार पाकर, श्रीकृष्णचन्द्र और यज्ञ की प्रशंसा करते हुए आनन्द पूर्वक अपने अपने धाम पधारे।

सुबोधिनी— **सर्वे** सुरादयः **सभाजिताः** सात्त्विका राजसास्तामसाश्च। आधिदैविकाध्यात्मं च उभयसमाराधनमध्ये अंशत्वेन प्रसङ्गाच्च स्वयं प्रीणिताः **मुद्रा स्वधामानि ययुः** ।।५२।।

व्याख्यार्थ—देव आदि सब सात्विक राजस और तामस का राजा ने सत्कार किया, आधिदैविक, आध्यात्मिक दोनों को प्रसन्न किया, उनमें अंश था और प्रसंग के कारण प्रसन्न किए हुए देवादि आनन्द से अपने २ स्थानों पर गए ।।५२।।

आभास—राजसूयस्य फलं स्वराज्यं सर्वसंतोष चोक्त्वा भूभारहरणमपि तस्य प्रयोजनमिति तस्यापि बीजं तत्र जातमिति निरूपयति **दुर्योधनमृते पापमिति**।

आभासार्थ—राजसूय का फल स्वराज्य और सर्व का सन्तोष किया वह वर्णन कर, अब पृथ्वी का भार हरण करना वह भी उसका ही प्रयोजन है जिसकी नींव वहाँ पड़ गई है, यह 'दुर्योधनमृते' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम्।**
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ।।५३।।

श्लोकार्थ—पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर की इतनी समृद्धि बढ़ी देखकर दुर्योधन सहन न कर सका, क्योंकि कुरु कुल का रोगरूप, पापी, कलिरूप था ।।५३।।

सुबोधिनी—दैत्यांशाः पूर्वमेव निराकृताः। अयं संनिहितबन्धुत्वेन छन्नः अन्तः स्थितः तथापि फले सिद्धे स्वदोषं प्रकटितवान्। ततो मानभङ्गं प्राप्य विमना गतः, यतः **स पापरूपः कलेरवतारः**। तादृशः कथं बन्धुरितिचेत्तत्राह **कुरुकुलस्यामयमिति**। ब्रह्मकल्पाद्य तत्पर्यन्तं कुरुवंशे यावत् पापमभूत् तदेवैकीभूतं दुर्योधनरूपेणाविर्भूतं अतस्तस्य बन्धुत्वं पापत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः। आमयो रोगः प्राणिनां सहजः धात्वन्नवैषम्येण नित्यं भवति स कदाचित् प्रवृद्धः रोगव्यपदेशं प्राप्नोति तथायमपि पापरूप इति भावः। तस्योद्बोधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह **यो न सेहे श्रियं स्फीतामिति**। धर्मफलमधर्मो न सहते यथा आमयो गुरुभोजनम्। दृष्टादृष्टोपायाभ्यां **पाण्डुसुतस्य श्रीः स्फीता** जाता तादृशीं प्रसिद्धां न सेहे इति **कुरुकुले** रोगत्वम् ।।५३।।

व्याख्यार्थ—दैत्यांश राजाओं को तो प्रथम ही निकाल दिया था, यह दुर्योधन निकट का बान्धव था, इसलिए छिप कर भीतर स्थित था, बान्धव था तो भी, जब युधिष्ठिर को यज्ञ का फल मिला

जिससे उसकी शोभा समृद्धि आदि बढी, तब उसने (दुर्योधन ने) अपना दोष (दुष्टता) प्रकट किया, पश्चात् मानभंग होने से दुःखी हुआ, क्योंकि वह पाप रूप कलि का अवतार है। वैसा पाप रूप कलि का अवतार धर्मराज युधिष्ठिर का बन्धु कैसे हो सका ? जिसका समाधान करते हैं कि यह कुरुकुल में रोगरूप है, ब्रह्मकल्प से लेकर अब तक कुरुवंश में जो पाप हुआ वह ही इकट्ठा होकर दुर्योधन रूप से प्रकट हुआ है, इस कारण से, उसका बन्धुपन और पापपन विरुद्ध नहीं है। प्राणियों का रोग होना सहज धर्म है, अन्नादि भोजन की और धातु की विषमता से नित्य होता ही है, वह कदाचित् बढ जाता है तब रोग कहलाता है, वैसे यह पाप रूप भी समझना चाहिए। इस पाप के जग जाने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि जैसे शरीर में जब रोग होता है तब वह रोग गरिष्ठ भोजन को सहन नहीं कर सकता है अर्थात् पचा तो सकता नहीं है किन्तु स्वयं विशेष बढता है, वैसे ही यह अधर्म अर्थात् पापरूप रोगरूप दुर्योधन, युधिष्ठिर की सम्पत्ति आदि धर्मरूप भोजन को सहन नहीं कर सका, किन्तु विशेष हानि करने के लिए उद्यत हुआ, इसलिए कुरुकुल का 'रोग' इसको कहा है ।।५३।।

आभास—एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह **य इदं कीर्तयेदिति** ।

आभासार्थ—'य इदं कीर्तयेद्विष्णोः' श्लोक में इस उपाख्यान श्रवण का फल कहते हैं।

श्लोक—**य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।**
राज्ञां मोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।५४।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य विष्णु के, चैद्य वध आदि, राजाओं को कैद से छुड़ाना और यज्ञ कर्म का कीर्तन करता है वह सर्व पापों से छूट जाता है ।।५४।।

सुबोधिनी—प्रत्यहं पठेत्, किमित्येतत्पठिष्यतीत्याशङ्क्यायामाह **विष्णोः कर्मेति**। इदं तु राजसूयाख्यं राज्ञः कर्म कथं भगवत्कर्मेत्यत आह **चैद्यवधादिकमिति**। शिशुपाल **वधः आदिर्यस्य**। ततःप्रभृति सर्वं भगवत्कर्मैव, तर्हि तावदेव श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह **राज्ञां मोक्षं वितानं** चेति। त्रयमेतत् तामसं राजसं सात्त्विकं चेति एतत्कीर्तनेन श्रवणेन च **सर्वपापैः प्रमुच्यत** इति श्रवणादिफलं निरूपयन् तस्य धर्मस्योत्तमत्वमाह यथा स्वरूपत उत्तमत्वं वर्ण्यते। तथा दृष्टफलसाधकत्वेनापि माहात्म्यमिति फलोक्तिः ।।५४।।

व्याख्यार्थ—इस चरित्र का नित्य पाठ करे, क्यों नित्य पाठ करे ? इस शंका का समाधान करते हैं कि 'विष्णोः कर्म' यह चरित्र भगवान् विष्णु की लीला है, यह आप कैसे कहते हो ? यह तो राजा का किया हुआ राजसूय यज्ञ रूप कर्म है, भगवान् की लीला कैसे है ? जिसका उत्तर देते हैं कि, शिशुपाल वध आदि से लेकर जो कर्म हुवे हैं वे सर्व कर्म भगवान् के ही कर्म (लीला) हैं, तब तो वही सुनना चाहिये, जिसके उत्तर में ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'राज्ञां मोक्षं वितानं च' कहा है कि राजाओं को कैद से छुड़ाने और यज्ञ का भी श्रवण करना चाहिए, ये तीन कर्म तामस, राजस और सात्त्विक होने से तीन प्रकार के हैं इनके श्रवण तथा कीर्त्तन करने से मनुष्य सर्व पापों

से छूट जाता है, अर्थात् उसके सर्व पाप क्षय हो जाते हैं, इसके श्रवणादि के फल को निरूपण करते हुए, उस धर्म की उत्तमत्ता कहते हैं। जैसे स्वरूप से उत्तमपन का वर्णन है वैसे ही दृष्टफल का साधन होने से भी इसका महात्म्य है, यों फल की उक्ति है ।।५४।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध के २५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

"पांडव यज्ञ शिशुपाल गति"

राग बिलावल:—

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ । सत्रु मित्र हरि मनत न दोइ ।।
जो सुमिरै ताकी गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ ।।
बैर भाव सुमिर्‌यौ सिसुपाल । ताहि राजसू मैं गोपाल ।।
चक्र सुदरसन करि संहार्‌यौ । तेज तासु निज मुख मैं धार्‌यौ ।।
भक्ति भाव भक्तनि उद्धारत । बैर भाव असुरनि निस्तारत ।।
कोऊ सुमिरौ काहु प्रकार । सूरदास हरि नाम उधार ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७५वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७२वां अध्याय
उत्तरार्ध २६वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" ५

राजसूय यज्ञ की पूर्ति और दुर्योधन का अपमान

कारिका—**षड्विंशे राजसूयस्य भूभारहरणे यथा ।**
कारणत्वं तदर्थं हि मानभङ्गो निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिस तरह राजसूय यज्ञ, पृथ्वी के भार हरण करने में कारण बनता है उसी तरह दुर्योधन के मान भङ्ग में यज्ञ कारण है इसको जताने के लिये ही उत्तरार्ध के इस २६ वें अध्याय में दुर्योधन के मान भङ्ग का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**यथान्यद्भगवत्कर्म मुख्यं कंसवधादिकम् ।**
राजसूयकृतिस्तद्वत् भूभारहृतिकारणम् ॥२॥

कारिकार्थ—जैसे भगवान् का कंस वध आदि कर्म भूमि के भार हरण करने में मुख्य कारण है, वैसे ही राजसूय यज्ञ भी भू भार हरने में मुख्य कारण है ॥२॥

कन्रिका—**स्वातन्त्र्ये तु हरेरत्र गौणतेति निरूपणम् ।**
हरेः कथायां तस्यात्र न युक्तमिति निश्चयः ॥३॥

कारिकार्थ— यदि भू भार हरण करने में 'राजसूय' यज्ञ स्वतन्त्र कारण माना जाए, तो हरि गौण बन जायेंगे, इस प्रकार हरि की कथा में हरि को गौण बनाना उचित नहीं यों निश्चय होता है ॥३॥

कारिका—**लोकिक्येव सभृद्धिर्हि तस्याभिमतिकारणम् ।**
अतः सैवात्र पूर्वोक्तादधिका वर्ण्यते स्फुटा ॥४॥

कारिकार्थ—उसके (युधिष्ठिर के) आदर के कारण लौकिकी ही समृद्धि है । इस कारण से प्रथम कही हुई समृद्धि से भी अधिक समृद्धि स्पष्ट वर्णन की जाती है ॥४॥

कारिका—**तस्माद्भाषा लौकिकीयं भावादङ्गं न सर्वथा ।**
न विरोधस्ततः पूर्वैर्नाग्रिमैरपि वाचकैः ॥५॥

कारिकार्थ—इस कारण से यह भाषा लौकिको भाषा है शेष भगवान् तो प्रेम के कारण आधीन होते हैं न कि समृद्धि के कारण आधीन होते हैं । पहले कहे हुए वाक्य, अथवा अब जो कहे जायेंगे, उन वाक्यों में किसी प्रकार से भगवान् के स्वातन्त्र्य में विरोध नहीं है ॥५॥

आभास — एवं पूर्वाध्यायान्ते 'दुर्योधनमृते पापम्' इत्युक्तम् । तत्र राजा विस्तारं पृच्छति अजातशत्रोरिति द्वाभ्याम् । स्वयं सर्वं सावधानतया श्रूयत इति ज्ञापयितुं सार्धेन पूर्वोक्तमनुवदति **अजातशत्रोरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूर्व अध्याय में कहा है, कि पाप रूप दुर्योधन के सिवाय सबको निकाल दिया था । इस विषय में राजा "अजातशत्रो" इन दो श्लोकों में सर्व कथा विस्तार पूर्वक पूछता है, स्वयं तो सब सावधान होकर सुनता है यह जताने के लिए प्रथम सार्ध श्लोक से पूर्व कथा को कहता है ।

श्लोक— राजोवाच—**अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा राजसूयमहोदयाम् ।**
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः ॥१॥
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्वयः सुराः
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! राजसूय यज्ञ से बहुत वृद्धि को प्राप्त युधिष्ठिर की समृद्धि को देखकर, दुर्योधन के सिवाय, मनुष्य, देव, राजा, ऋषि और देव जो भी आए थे, वे सब प्रसन्न हुए, यों क्यों हुआ वह बतलाइये ।

सुबोधिनी—वैरे कारणाभावः **तामलौकिकीं राजसूयेन महानुदयो** यस्या इति **तां** समृद्धि दृष्ट्वा । पुल्लिङ्गपाठो वा । तस्य सर्वाह्लादकत्वमाह **सर्वे मुमुदिर** इति । ब्रह्मवादिनो वाक्यं सत्यमिति संबोधनम् । सात्त्विका राजसा एव निरूपिताः । **नृदेवा** इति नरश्च देवाश्चेति । **राजानो ऋषयः सुराश्च** इति त्रिविधा लोकान्तरस्थाः । **इति श्रुतमिति** श्रुतं समर्थनीयमिति त्वत्त एव च श्रुतमस्ति **नोऽस्माभिः** सर्वैरेव । **भगवन्निति** ज्ञानार्थं प्रशंसा । **दुर्योधनस्य** बन्धोरपि कथं न **मुत्** तस्य सन्तोषाभावे **कारणमुच्यतामित्यर्थः** ॥१॥२॥

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर का नाम अजातशत्रु कह कर यह बताया है कि दुर्योधन को इसके साथ शत्रुता करने का कोई कारण नही था । युधिष्ठिर के पास उस अलौकिक समृद्धि[1] को जिस समृद्धि की राजसूय यज्ञ के कारण बहुत वृद्धि हुई हैं उसको देखकर सबको आनन्द प्राप्त हुआ, पुल्लिङ्ग पाठ लेने से अर्थ यों करना होगा, कि राजसूय यज्ञ का महान् उदय सबको आनन्द दायी हुआ, हे ब्रह्मन् ! सम्बोधन से यह कहा कि श्री शुकदेवजी ब्रह्मवादी हैं अतः उनके वचन कभी झूठे नहीं होते हैं । पहले जो मनुष्य और देव, यों कहा जिससे सात्विक तथा राजस बताये राजा ऋषि और देव ये तीन प्रकार जो कहे वे लोकान्तर (दूसरे लोक में) स्थित कहे हैं वे भी वहां प्रसन्न हुवे । इति श्रुतं, यों सुना है । इस 'श्रुत' पद के भाव से ही लोकान्तरस्थ कहा है, यह जो सबने सुना है वह भी आपसे ही सुना है भगवन् ! सम्बोधन देकर उनकी (शुकदेवजी की) प्रशंसा, ज्ञान के कारण की है, दुर्योधन युधिष्ठिर का बान्धव था फिर भी उसको आनन्द क्यों नहीं हुआ । उसको सन्तोष नहीं हुआ, इसका कारण बतलाइये ॥१-२॥

आभास—लौकिकसंपत्तिमाह **पितामहस्यति** ।

आभासार्थ—पिता महस्य श्लोक से लौकिक सम्पत्ति बताते हैं ।

श्लोक—ऋषिरुवाच—**पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।**
बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ॥३॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे पितामह (दादा) महात्मा युधिष्ठिर के यज्ञ में प्रेम से बन्धे हुए बान्धव सर्व प्रकार की सेवा प्रेम से करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—संबन्धेन श्रवणप्रोत्साहो निरूप्यते, **महात्मन** इति महानुभावत्वात् । अन्येषां परिचर्यायां न काचन लज्जा, अत एव **बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्** । यज्ञे बहूनि कार्याणि तत्र प्रतिनियत कार्यकर्तृत्वं सर्वेषां वक्तुं सामान्यतो निरूप्यते ॥३॥

१—श्लोक में राजसूय महोदयाम् स्त्री लिङ्ग है इसको भले पुल्लिग लेओ ।

व्याख्यार्थ—पितामह 'दादा' शब्द सुनने से सम्बन्ध के कारण परीक्षित को श्रवण मे विशेष उत्साह हुआ । जिसका निरूपण करते हैं । 'महात्मा' विशेषण देकर उसका प्रभाव सिद्ध किया है, जिससे उसकी अर्थात् उसके प्रारम्भ किए हुए कार्य (यज्ञ) की सेवा में अन्य संकोच नहीं करते थे, इससे ही बान्धव उसकी सेवा में लग गये, यज्ञ में बहुत कार्य होते हैं, सबको अपना २ कार्य बांट दिया तदनुसार वे सेवा करने लगे यह सामान्य रूप से कहते है ॥३॥

आभास—विशेषतो निरूपयति **भीमो महानसाध्यक्ष** इति ।

आभासार्थ—'भिमो महानसाध्यक्ष' श्लोक से विशेष निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।**
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥४॥

श्लोकार्थ—भीमसेन पाकालय[1] का अध्यक्ष, सुयोधन कोषाध्यक्ष[2], सहदेव पूजाकार्य का अधिकारी और नकुल सामग्री इकट्ठी करनेवाला हुआ ॥४॥

सुबोधिनी—स एव तत्र नियुज्यते यो यस्मिन् कर्मणि महत्येव प्रीतो भवति । तत्र बहुभक्षकत्वात् **भीम** एव **महानसाध्यक्षः** कृतः, स हि बहु पाचयति । तथा **धनाध्यक्षः** धनरक्षकः दुर्योधनः, स हि पद्महस्तः यमर्थं स्पृशति सोऽक्षयो भवति । **सहदेवो** ज्ञानवान् ब्राह्मणादि**पूजायां** नियुक्तः । **नकुलस्तु** अश्विनीकुमारपुत्र इति द्रव्याणां गुणदोषाभिज्ञत्वात् **द्रव्यसाधने** द्रव्याणां विनियोगार्थं परीक्षायां नियुक्तः ॥४॥

व्याख्यार्थ—जिसकी जिस कार्य करने में प्रीति हो उसको उस कार्य में ही लगाना चाहिए जैसा कि भीम की भोजन में प्रीति थी । इसलिए उसको पाकशाला का कार्य दिया गया, दुर्योधन को कोषाध्यक्ष किया गया क्योंकि उसके हस्त में पद्म का चिह्न था जिससे वह जिस द्रव्य का स्पर्श करता था वह अखुट हो जाता इसलिए धन का अध्यक्ष इसको बनाया गया । सहदेव ज्ञानवान था इसलिए ब्राह्मणादि की पूजा के कार्य में उसको लगाया गया, नकुल अश्विनी कुमारों का पुत्र था । जिससे पदार्थों के गुण और दोषों की परीक्षा करने में निपुण था । इसलिए द्रव्य इकट्ठे करने तथा उनकी परीक्षा करने के कार्य में इसको नियुक्त किया गया ॥४॥

श्लोक—**सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने**
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महात्मनः ॥५॥

श्लोकार्थ—महान् आत्मा युधिष्ठिर के यज्ञ में अर्जुन सत्पुरुषों की सेवा करने लगा श्रीकृष्ण उनके पाद प्रक्षालन (धोने) की सेवा में तत्पर हुए परोसने का कार्य द्रोपदी करने लगी, दान का कार्य दानी कर्ण ने संभाल लिया ।

१—रसोई घर जहां भोजन बनाया जाता है २—खजान्ची ।

सुबोधिनी—तथा **सतां** सेवायां **जिष्णु**रर्जुनः, सह युपासितवृद्धः सेवां जानाति **कृष्णः पादावनेजन** इति भगवतः अनङ्गत्वे दुर्योधनदृष्टौ सर्वोत्तमत्वं न स्फुरिष्यतीति ब्रह्मण्यत्वात्तत्र विनियोगो वर्ण्यते। इदमेव हि भगवत आधिक्यं भृगुपरीक्षायां निरूपयिष्यते। **परिवेषणे द्रुपदजा** द्रोपदी अमृतहस्ता। **कर्णोदाने** अत्युदारत्वात्। **महात्मन** इति बहुदानेऽपि राज्ञः संतोष एवेत्येतदर्थमुक्तम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—वृद्धों की सेवा करने से, अर्जुन को सेवा कार्य किस प्रकार करना, यह अनुभव था। इसलिए उसको सेवा का कार्य दिया गया। भगवान् को पाद-प्रक्षालन (पैर धोने) की ऐसी सेवा दी गई जिससे दुर्योधन को श्रीकृष्ण सबसे उत्तम देखने में न आवे, क्योंकि इस सेवा के भाव वा तत्त्व को न जानने से दुर्योधन कृष्ण को साधारण समझने लगा। युधिष्ठिर को सबसे उत्तम जाना, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं, जिस कार्य से ब्राह्मण प्रसन्न होवे वही कार्य पसन्द करने वाले हैं अतः उनको इस कार्य में लगाया गया, भृगु परीक्षा के समय भगवान् ने इस दीनता को प्रकट करने से अपने को सब देवों से उत्तम सिद्ध किया, यह कहा जाएगा! परोसने के कार्य में द्रोपदी को नियुक्त किया, क्योंकि वह अमृत हस्ता थी। अर्थात् जिस भक्ष्य आदि को स्पर्श करे वह अमृत सम हो जाता था। कर्ण उदार था, इसलिए उसको दानाध्यक्ष बनाया, 'महात्मनः' युधिष्ठिर को विशेषण देने का भाव यह है कि कर्ण कितना भी दान देवे तो भी राजा को प्रसन्नता ही होती ॥५॥

श्लोक—**युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः।**
बाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च संतर्दनादयः ॥६॥

श्लोकार्थ—सात्यकि विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर आदि भूरि आदि बाह्लीक के पुत्र और जो सन्तर्दन आदि बान्धव थे ॥६॥

सुबोधिनी—**युयुधानादयः** सर्व एव नानाकर्मसु वैषम्याभावार्थं नियुक्ताः। **युयुधानः** सात्यकिः यादवोऽप्यर्जुनशिष्यः। **विकर्णादयो**ऽपि बान्धवाः। **बाह्लीकः** शंतनोर्भ्राता, तस्य **पुत्रा** भूरिश्रवआदयः। **संतर्दनादयश्च** गोत्रजाः। सर्वेषां कथनं संभ्रमार्थम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—विषमता न होवे इसलिए सात्यकि आदि सबको पृथक् पृथक् कार्यों के अधिकारी बनाया, सात्यकि को युयुधान कहा है और वह यादव था, तो भी अर्जुन का शिष्य था। विकर्ण आदि भी बान्धव थे। बाह्लीक शन्तनु का भाई था, उसके पुत्र भूरीश्रवा आदि थे। सन्तर्दन आदि गोत्र में उत्पन्न हुए थे सर्व का कथन इसलिए है कि इन सबों का युधिष्ठिर के लिए आदर है ॥६॥

श्लोक—**निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा।**
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकर्षवः ॥७॥

श्लोकार्थ—हे महाराजा वे सब अपने अपने नियुक्त किये बड़े यज्ञ सम्बन्धी अनेक कामों में राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से लग गए थे ॥७॥

सुबोधिनी—**महायज्ञो**ऽयमिति आकारणप्रेषणद्रव्यसमानयनादिनानाकर्मसु नियुक्ताः सन्तः **प्रवर्तन्ते स्म**। राजसूयस्य परमधर्मत्वात् तत्कर्तुर्मनःप्रीतिं सर्व एव कर्तुं प्रवृत्ताः। एवमारम्भे सर्वेषां बन्धूनां विनियोगलक्षणः महान् संभ्रम् उक्तः ॥७॥

व्याख्यार्थ—यह राजसूय यज्ञ महान् यज्ञ है इसलिए इसमें बुलाने, भेजने, वस्तु लानी आदि बहुत कार्य थे। इसलिए सब अलग अलग कार्यों में नियुक्त होकर अपना अपना कार्य करते थे, राजसूय महान् धर्म कार्य होने से उसके करने वाले का मन प्रसन्न हो, इस वास्ते सब कार्य में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार यज्ञ के प्रारम्भ होते ही सब बान्धव उसके कार्य में तत्पर हो गए, जिससे युधिष्ठिर का महान् आदर हुआ है यह प्रकट देखने में आ रहा था ॥७॥

आभास—अन्ते तु महानेव संभ्रमो जात इति वक्तुं मध्ये वैदिकं संक्षेपेणाह **ऋत्विक्सदस्येति।**

आभासार्थ—अन्त में तो बहुत आदर हुआ यों कहने के लिए 'ऋत्विक् सदस्य' श्लोक में बीच में हुए वैदिक आदर का वर्णन करते है।

श्लोक—**ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।**
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्वभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥८॥

श्लोकार्थ—ऋत्विज, सभासद, बड़े ज्ञानी और उत्तम स्नेहियों का मधुर वाणी पूजन तथा दक्षिणा आदि से सत्कार हो जाने के बाद शिशुपाल भगवान् के चरण में प्रविष्ट हुआ इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किया ॥८॥

सुबोधिनी—**ऋत्विजः सदस्या बहुविदश्च** विहितदानेन संतर्पिताः। **सुहृत्तमास्तु** लौकिकदानेन। **स्विष्टाः** इच्छापूरणेन प्रीणिताः। **सूनृतं** वाचा तर्पणम्। **समर्हणं** कायिकम्। **दक्षिणा** द्रव्यकृता। मानसं त्वेभिरेव ज्ञायते। एवं मित्राणां संतोषं कृत्वा अमित्राणां च नाशव्याजेनेष्टं कृतवानित्याह **चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्ट** इति। **चक्रुस्ततस्त्वभृथस्नपनमिति**। लौकिकोत्सवोऽवभृथे भवति। **द्युनदी** यमुनैव देवरूपित्वात्। इयमपि सूर्यमण्डलादेव समागतेति, वैदिकविरोधाभावे गङ्गायां वा गताः। अनेना लौकिकसामर्थं च द्योतितत् ॥८॥

व्याख्यार्थ—ऋत्विज, सभासद और बड़े ज्ञानियों को शास्त्र में कहे अनुसार दान देकर तृप्त किया, उत्तम स्नेहियों का देवों की तरह पूजन कर लौकिक दान देके उनकी इच्छा पूर्ण की, मधुर वाणी से सर्व को प्रसन्न किया, शरीर से पूजन किया, द्रव्य से दक्षिणा का कार्य पूर्ण किया, इस प्रकार कार्य करने से मानसिक आदर समझ में आ जाता है, इस प्रकार मित्रों को प्रसन्न कर शत्रुओं का भी नाश के बहाने से हित ही किया, जिसका वर्णन करते हैं कि शिशुपाल ने भगवान् के चरण में प्रवेश किया, इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किय अवभृथ में लौकिक उत्सव होता है

'द्यु नदी' देव रूप होने से यमुनाजी ही हैं। यह भी सूर्य मण्डल से ही आई है अथवा वैदिक विरोध[1] न होने से गंगा में स्नान करने के लिए गए इससे अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया है ॥८॥

आभास—तत्र मृदङ्गादिवाद्यानां वादनमाह **मृदङ्गे**ति ।

आभासार्थ—वहां मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे यों 'मृदङ्ग शङ्ख' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।**
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥९॥

श्लोकार्थ—उस अवभृथ स्नान के उत्सव में मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, धुन्धुरी, आनक और गौमुख आदि विचित्र बाजे बज रहे थे ॥९॥

सुबोधिनी—लौकिकोत्कर्षार्थमेव वादित्राणां । सिद्धानामापि वर्णनम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—बाजे प्रसिद्ध थे तो भी लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए उनका वर्णन किया है ॥९॥

आभास—अवभृथनिमित्तमाश्रित्य लौकिके उत्सवे उत्सवकार्यं सर्वमेवाह **नर्तक्यो ननृतुरिति** ।

आभासार्थ—अवभृथ के कारण का आश्रय लेकर जो लौकिक उत्सव हुआ उसके सर्व कार्य का 'नर्तक्यो ननृतु' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।**
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत ॥१०॥

श्लोकार्थ—प्रसन्न हुई नटनियाँ नृत्य करती थी तथा गाने वाले यूथ के यूथ गाते थे और वीणा बंशी और तल का ऊँचा शब्द होता था। उनका वह नाद आकाश को छूता था ॥१०॥

सुबोधिनी—**हृष्टाः** उत्सवासक्ताः । **यूथशः** समूहशः । **वीणा वेणवश्च तलस्तालः** हस्ततलो- | **न्नादो वा दिवमस्पृश**दिति **लौकिकोक्तिः** ॥१०॥

व्याख्यार्थ—उत्सव में आसक्त होने से (नटिनियाँ) प्रसन्न हुई थी, यूथ के यूथ मिल कर

१—वैदिक विधि अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेने वाले को तदनुसार ही कार्य विधि करनी चाहिए यों होते हुए भी गंगाजल में शोभती तुलसी मिश्रित कृष्ण चरण रज विशेष होने से जाता अनुचित नहीं है, भगवन्मार्ग का अनुसरण करने से वेद का विरोध नहीं रहता है।

वीणा, वंशी और तलका ताल अथवा हस्त का ताल ऐसा जोर से होने लगा जो आकाश को छूने लगा ऐसी लौकिक उक्ति है ॥१०॥

आभास—एवं निर्गमेन संभ्रममुक्त्वा सर्वेषां राज्ञां युधिष्ठिरेण सह निर्गमनप्रकार माह **चित्रध्वजेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाहर निकलते समय हुए कोलाहल का वर्णन कर सब राजा युधिष्ठिर के साथ निकले वह प्रकार 'चित्रध्वज' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**चित्रध्वजपताकाग्र्यैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।**
स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥

श्लोकार्थ श्रेष्ठ रंग विरंगी ध्वजाओं और पताकाओं सहित, सुसज्जित उत्तम हस्तियों, रथ अश्व और सैनिकों के साथ, सुवर्ण मालाधारी राजा बाहर निकले ॥११॥

सुबोधिनी—गरुडादिचिह्निता **ध्वजाः**, जय-पत्राङ्किताः **पताकाः**, आश्चर्यहेतुत्वं **चित्रत्व** ध्वजानां पताकानां च । **अग्र्याः** श्रेष्ठाः । **इभेन्द्राः स्यन्दनानि च अर्वाणश्च** अश्वाः । एते **स्वलंकृता** | **भटाश्च** । चतुरङ्गाणां अलंकरणमुक्तम् । तैः सह **भूपा निर्ययुः** । **रुक्मालंकरण**समूहयुक्ताः । **रुक्मं** सुवर्णम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—ध्वजाएँ, गरुड़ आदि की चिह्नों वाली थीं जिनके उपर विजय के वाक्य लिखे थे वैसी पताकाएँ थीं, ध्वजा और पताकाएं रंग विरंगी होने से देखने वालों के अचम्भे का हेतु बन गई थीं। इनमें जो आगे लगी हुई वे उत्तम थी, हस्ती, रथ और घोड़े तथा सैनिक ये सब अच्छी तरह सुसज्जित थे। राजा के जो चार अङ्ग होते हैं वे सब शृङ्गारे हुए थे यों कहा, सोने के अलंकारों को धारण किये हुए राजा भी उनके साथ बाहर निकले ॥११॥

श्लोक—**यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः ।**
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरः सराः ॥१२॥

श्लोकार्थ—यदु, सृन्जय, काम्बोज, कुरु, कैकय और कौशलवंश के क्षत्रिय भूमि को कम्पित करते हुए सैन्य यजमान को आगे कर बाहर निकले ॥१२॥

सुबोधिनी—**यदुसृञ्जय**यादयः क्षत्रियावान्तर-भेदाः तत्तत्कुलाभिमानयुक्ता अपि सह **निर्ययुरि**- | त्युत्कर्षः । **स्वस्वसैन्यैर्भुवं कम्पयन्तः । यजमानो युधिष्ठिरः पुरःसरो** येषाम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यदु, सृन्जय आदि भी क्षत्रिय जाति के अवान्तर भेद हैं, अपने २ कुल का उनको अभिमान था। तो भी युधिष्ठिर के साथ निकले जिससे महाराजा का उत्कर्ष (बड़ाई) प्रकट होता था, वे सब क्षत्रिय अपनी अपनी सेवा से पृथ्वी को कम्पित करते थे। इन सब राजाओं के आगे 'युधिष्ठिर' था ॥१२॥

आभास—एवं केवललौकिकपराणां निर्गमनमुक्त्वा अलौकिकानामपि सह निर्गमनमाह **सदस्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो लौकिक के परायण थे, उनका राजा के साथ निकलना कह कर अब 'सदस्य' श्लोक से अलौकिकों का भी युधिष्ठिर के साथ में निकलने का वर्णन करते है।

श्लोक—**सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।**
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥

श्लोकार्थ—सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण वेद का तुमुल घोष करते हुए राजा के साथ चलने लगे और देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व भी पुष्पों की वर्षा के साथ स्तुति करते हुए ऊपर आकाश मार्ग से साथ चले ॥१३॥

सुबोधिनी—त्रिविधा अपि ब्राह्मणाः **ब्रह्मघोषेण** सह निर्गताः । **भूयसेति** वाद्यापेक्षया ब्रह्मघोषस्यैव निकटे जायमानत्वात् भूयस्त्वम् । अलौकिकपङ्क्तौ देवानामप्यागमनमाह **देवर्षीति**। देवादय उपरि गच्छन्तः पुष्पवृष्टिं स्तोत्रं च कृतवन्तः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार के ब्राह्मण (सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण) वेद ध्वनि करते हुए बाहर निकले, वेद ध्वनि का घोष ऐसा महान् हुआ जो साथ में वाद्यों की ध्वनि होती थी तो भी यह वेद मंत्रों का घोष स्पष्ट सुनने में आता था, मानों वाद्यों से भी निकट हो रहा है। उस अलौकिक पंक्ति में देवों का भी आगमन हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व आकाश मार्ग से चलते हुए पुष्प वृष्टि करते थे और स्तुति भी कर रहे थे ॥१३॥

आभास—ततः कामकलाभिः गच्छतामुत्सवमाह **स्वलंकृता** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् काम की कलाओं से जाने वालों के 'स्वलंकृता' श्लोक से उत्सव का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**स्वलंकृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूषणाम्बरैः ।**
विलिम्पन्तोऽभिषिञ्चन्तो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥

श्लोकार्थ—नगर के नर तथा नारी चन्दन, माला, आभूषण और वस्त्रों से सिंगार कर सुसज्जित होके अनेक प्रकार के रसों से लेपन करते हुए और सिंचन करते हुए विहार करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी—गन्धादिभिः **स्वलंकृताः विविधै रसैर्विलिम्पन्तः** तैलगोरसादिभिर्हृष्टाः सन्तः कामकलाभिर्**विजह्रुः**। याभिः सहलीलोपयुक्तते तास्ते च **विजह्रुरिति** विमर्शः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—गन्ध आदि सुगन्धित पदार्थों से सिंगारे हुए, अनेक प्रकार के रसों से लेप करते हुए नर और नारियाँ काम कलाओं से विहार करते हुए आनन्द पा रहे थे। जिस स्त्री का विहार जिस स्त्री के साथ योग्य था वह उससे ही करती। एवम् पुरुष भी परस्पर योग्यता के अनुसार विहार करते थे। यह ही विचार पूर्वक निर्णय है।

आभास—साधारणीनां भेदेनाह **तैलगोरसेति** ।

व्याख्यार्थ—'तैलगोरस' श्लोक से साधारण स्त्रियों (वेश्याओं) का पृथक् प्रकार से विहार कहते हैं।

श्लोक—**तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।**
पुंभिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥

श्लोकार्थ—तेल, दही, सुगन्धी जल, हल्दी और सघन (गाढ़ी) केसर, इन पदार्थों, से पुरुष वेश्याओं को लेप करते थे और वेश्याएं पुरुषों को लेप करती थीं, इस प्रकार इनका विहार होता था।

सुबोधिनी—इदमर्धं देहलीप्रदीपवत् । **पुंभिर्विटैः प्रकर्षेण लिप्ताः** स्वयमपि **लिम्पन्त्यः । वारयोषितः** वेश्याः । वराणां समूहो वारं तस्य योषित इति । धर्ममध्येऽपि लौकिकभाषात्वात् तथावर्णनं न दोषः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यह पूर्वार्ध देहली पर धरे हुए दीपक के समान है, पुरुष अर्थात् वैश्यागामी पुरुषों ने रसों से वैश्याओं को लिप्त की थीं तथा वैश्याओं ने पुरुषों को लिप्त किया था, 'वारयोषित' पद का अर्थ करते हैं कि वरों का समूह वार, (बहुत पुरुषों) की स्त्रियाँ, वे स्त्रियाँ वारयोषित कही जाती हैं, यह भाषा लौकिक भाषा है, इस कारण से धर्म के अर्थात् यज्ञ के कार्य में इस प्रकार के वर्णन से कोई दोष नहीं है ॥१५॥

आभास— ततो राजपत्नीनां निर्गमनविहरणमाह **गुप्ता नृभिरिति** ।

आभासार्थ—अनन्तर रानियों के निर्गमन के समय का विहार 'गुप्ता नृभि' श्लोक से वर्णन करते है।

श्लोक—**गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेत द्देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।**
ता मातुलेयसखिभिः परिविच्यमानाः सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस उत्सव को देखने के लिए जैसे देवांगनाएँ विमानों में बैठकर आई थीं, वैसे ही योधाओं से रक्षित रानियां भी देखने के लिए बाहर निकली, मामे के पुत्र तथा सखियों से भिगोई जाती लज्जायुक्त हास्य से विकसित मुख वाली वे शोभा पा रही थी ॥१६॥

सुबोधिनी—शस्त्रपाणिभिः पदातिभिर्गुप्ताः। **एतदवभृथाख्यं कर्म**। **देव्यः** राजस्त्रियः नरयानैर्निर्गताः। नरयानानां तासां चोत्तमत्वं दृष्टान्तेनाह **विमानवरैर्नृदेव्य** इति। तासामपि लेपनादिलीलामाह **ता मातुलेयसखिभिरिति**। मातुलेयैः सखिभिश्च **परिषिच्यमानाः**। मातुलेया एव वा सखायः। मातुलेयस्य भगवतः सखीभिरित्यपव्याख्यानम्। सर्वराज्ञां स्त्रीणां प्रक्रान्तत्वात् मातुलेयपदं च तासामेव मातुलेयं गमयति। न भवुं मातुलेयं ता देवरानुत सखीनित्यग्रे विरोधश्च। मातुलेयकन्यापरिणये ज्येष्ठस्य कनिष्ठा देवरा मातुलेयाश्च भवन्ति। मातुलेयपदं पैतृष्वस्त्रेयस्याप्युपलक्षणम्। देवरैः सह सखीनां परिहासविलासः लौकिकः सर्वदेशप्रसिद्धो न निषिद्धः। यथा राजभोग्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयुज्यन्ते तथा स्त्रीणामपि बाह्या लीलाः सम्बन्धिनामपि युज्यते मातुलेयपदेन धर्म्यो विवाहो निराकृतः। धर्मविवाहवतीनां तु सुतरां पतिव्रतानां तु विलासा एव न भवन्ति। सुतरामन्यैः सह। तस्मात्सुष्ठूक्तं मातुलेयैः सखिभिश्चेति। तथापि संवृता इति **सव्रीडहासविकसद्वदना** इति पूर्वोक्ताभ्यो विशेषः। परिषेचनं तु जलमध्ये न तु मध्येमार्गं तत्रैव कमलानीव **विरेजुः**। ॥१६॥

व्याख्यार्थ—शस्त्रधारी पैदल सैनिकों से रक्षित राजपत्नियां अवभृथ कर्म का उत्सव देखने के लिए पालकियों में बैठ बाहर आई, पालकियों की और इनकी उत्तमता दृष्टान्त से कहते हैं, जैसे उत्तम विमानों में देव स्त्रियाँ आकाश में निकली वैसे ये राज रानियां भी पालकियों में निकली उनके भी लेपन आदि का वर्णन करते हैं, मामा के पुत्रों और प्रणय वालों से रसों द्वारा सिंचित होती थी अथवा मामा के पुत्र ही प्रणय वाले थे।

मामा के पुत्र भगवान् के सखाओं से सिंचित होती थी, ऐसा अर्थ उचित नहीं है यहाँ सर्व राजाओं की स्त्रियों की बात है। मामे का पुत्र कहने से उनके मामे के पुत्र समझे जायेंगे, उनके पति के मामे के पुत्र नहीं समझे जायेंगे। आगे के श्लोक में जो देवर और प्रणय वालों को ये शब्द कहे हैं उनसे विरोध होगा। यदि यह अनुचित अर्थ किया जाएगा तो मामे के पुत्र की कन्या से विवाह करने पर, बड़े भाई की पत्नी के छोटे भाई देवर और मामे के पुत्र बन जाते हैं, मामे के पुत्र शब्द से भुआ के पुत्र की भी सूचना हुई है, सखियों को देवरों के साथ हँसी से विनोद करना लौकिक है। सर्व देशों में प्रसिद्ध है, उसका निषेध नहीं है। जैसे राज भोग्य पदार्थ सर्व के उपयोग में आ सकते हैं वैसे ही स्त्रियों से भी बाहर की हँसी आदि विनोद सम्बन्धी कर सकते हैं। मामे के पुत्र पद कहने से यह सूचित किया है कि यह विवाह धर्मानुसार नहीं है जो कन्यायें धर्मानुसार विवाह करती हैं वे सुतराम पतिव्रतायें हो जाती हैं अतः उनका दूसरों के साथ हँसी आदि विलास नहीं हो सकते हैं। इससे यह मामे के पुत्रों और प्रणय वालों से मिश्रित यह बराबर कहा है तो भी रक्षकों से आवेष्टित थीं और लज्जा युक्त हास्य के कारण प्रफुल्ल मुख वाली थीं जिससे प्रथम कही हुई स्त्रियों से उत्तम हैं। सिंचन जल के मध्य में होता है न कि मार्ग में। वहां जल में जैसे कमल खिलते हैं वैसे ये भी सुशोभित हो रही थी ॥१६॥

आभास—ता अपि प्रतियोगिनां सेचनं चक्रुरित्याह **ता देवरानिति**।

आभासार्थ—उन्होंने भी देवर और साथ वालियों पर सिंचन किया 'ता देवरानुत' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**ता देवरानुत सखीन्सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः।**
औत्सुक्यमुक्तकबराश्च्यवमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां मुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—वे अपने देवर और प्रणयवालों को पिचकारियों से अथवा चमड़े की डोलचियों से भिगो रही थीं। जिससे उस समय उनके वस्त्र भी भीग गये थे। उसी से उनके सब अंग कुच (स्तन), उरु और मध्य भाग साफ देखने में आते थे, तथा उत्सुकता से चोटी शिथिल हो जाने से पुष्प बिखर रहे थे, उस समय उनका यह विहार देख कर कामीजनों के मन क्षोभ पाते थे ॥१७॥

सुबोधिनी—त एव मातुलपुत्रा **देवराः**। **उतेति** सखीनां भिन्नत्वाय। **दृतयः** वंशचर्मकृताः। स्वयं च **ताः क्लिन्नाम्बराः** सूक्ष्मवस्त्रपरिधानाद्विवृतगात्राः। रसस्थानानामपि दर्शनार्थं विशेषतो निरूपणम्। **कुचोरुमध्या** इति शृङ्गारस्थानत्वाय तासां यथा वर्णनम्, **मध्यं** नाभिस्थानम्। क्रीडौत्सुक्येन **मुक्तं कबरं** यासाम्। अत एव **च्यवमाल्याः**। तासां दर्शनेन कन्दर्पाविर्भावो भवतीति तेन प्रकारेण विशेषो वर्णितः। दोषजनकत्वं व्यवस्थया परिहरति **मलिधियामिति**। अजितान्तःकरणानामेव तद्दर्शनेन क्षोभः। अनेन कीर्तनश्रवणादावपि दोषः परिहृतः। **रुचिरैरिति** रसाभासव्यतिरिक्तैः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे ही मामे के पुत्र देवर प्रणय वाले उनसे भिन्न थे यों बताने के लिए 'उत' पद दिया है, 'दृतयः' बांस की या चमड़े की बनी हुई पिचकारियों से अथवा छोटी डोलचियों से उनको भीगोती थीं और आप भी भीगे हुए वस्त्रों वाली थीं तथा वे कपड़े बहुत महीन थे जिनसे इनके अवयव साफ देखने में आते थे। रसोत्पादक स्थान भी दिखते थे। यों बताने के लिए उनके नाम कहते हैं, स्तन, जंघा और नाभि का भाग ये शृङ्गार रस के स्थान हैं, मध्य पद से नाभि का भाग कहा है। क्रीड़ा की उत्सुकता से जिनकी चोटी शिथिल (ढीली) पड़ गई थी। जिससे पुष्प बिखर रहे थे। उनके दर्शन से काम का आविर्भाव होता था। इसलिए उस प्रकार से उनकी विशेषता कही है, अब उनको देखना काम दोष उत्पन्न करने वाला है इसकी व्यवस्था 'मलधियां' पद से करते हैं कि जिनका अन्तः करण मलीन है, अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं है, उन मलीन बुद्धि वालों में ही कामोत्पत्ति होने लगी, शेष जिनकी बुद्धि मलीन नहीं है, इन्द्रियां जीती हुई है, उनमें काम दोष उत्पन्न नहीं होता है। अतः इस चरित्र के कीर्तन श्रवण आदि में कोई दोष नहीं है यह सिद्ध किया है 'रुचिरैः' पद से यह आशय दिखाया है कि इनकी यह क्रीड़ा शुद्ध प्रेम की थी। न कि रसाभास काम की थी ॥१७॥

आभास—ततो युधिष्ठिरस्य निर्गमनमाह **स सम्राडिति**।

आभासार्थ—'सम्राड्रथ' श्लोक से युधिष्ठिर का बाहर निकलने का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**स सम्राड्रथमारूढः सदश्वं रुक्ममालिनम्।**
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिस समय वे चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर उत्तम घोड़ों से युक्त सुवर्ण की मालाओं वाले रथ पर अपनी स्त्रियों के साथ चढ़े उस अवसर में ऐसे शोभित थे कि मानों क्रियाओं के साथ यज्ञराज शोभा दे रहा है ।।१८।।

सुबोधिनी—साम्राज्यं कर्मणा तेनैव प्राप्तमिति **रथविशेषणम्** । **सदश्वं रुक्ममालिनमिति** । **सत्पदेन** दान्तत्वमपि गम्यते । सुवर्णालंकारोपेतम् । **स्वपत्नीभिः** असाधारणीभिः, पूर्ववल- | ण्यार्थमुक्तम् । तस्यालौकिकत्वमाह **क्रियाभिः** **क्रतुराडिवेति** । प्रकरणे प्राप्तं लौकिकत्वं परिहरयते । क्रतुराडपि योगजदृष्ट्या दृश्यते । अभिव्यक्तिदशायां तु सर्वैरेव क्रियाभिर्नित्याभिः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—उसी यज्ञ कर्म से ही युधिष्ठिर ने साम्राज्य प्राप्त किया था । जिससे वे चक्रवर्ती हुए सुन्दर अश्व जिस रथ में जुड़े हैं, सुवर्ण की मालाओं से चारों तरफ सुसज्जित रथ में पहले से विलक्षण दिखती अपनी स्त्रियों से विराजमान हुवे, तब वे ऐसे अलौकिक शोभावान हुए, मानो यज्ञराज अपनी क्रियाओं से शोभा पा रहा है । यों कहने से यद्यपि प्रकरण से लौकिकता दिखती है, तो भी उसका परिहार कर अलौकिकता दिखाई है । यज्ञराज का प्रत्यक्ष दर्शन भी योग से उत्पन्न दैवी दृष्टि से होता है, प्रकट दशा में तो सकल नित्य क्रियाओं से जो ऋत्विज क्रियाएँ करते हैं उनके स्पष्ट दर्शन होते हैं ।।१८।।

श्लोक—**पत्नीसंयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।**
आचान्तं स्नापयांचक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ।।१९।।

श्लोकार्थ—पत्नी संयाज (याग) और अवभृथ संबन्धी कर्म कराके आचमन लेने के अनन्तर उन ऋत्विजों ने युधिष्ठिर को कृष्णा के साथ गङ्गा में स्नान कराया ।।१९।।

सुबोधिनी—ऋत्विजाँ वा यागा नानाशाखासु प्रकारभेदेन भवन्तीति पत्नीसंयाजान्ताः संस्थाः साम्प्रतं प्रचरन्ति । स (ह) स्नान्ता वा, तस्मिन् पक्षे स्वतन्त्रतया **पत्नीसंयाजाः** पृथगेव क्रियन्ते जाघन्यादिद्रव्यैः । आवभृथ्याश्च **इष्टयः आवभृथ्यैः** | कर्मभिः । **चरित्वा** चरणं कृतिः । **ततस्ते** एव **ऋत्विजः आचान्तं** कर्मसमाप्त्यनन्तरं **स्नापयांचक्रुः** अभिषेकविधिना । अभिषेको मुख्ययैवेति **सह कृष्णया**इत्युक्तं 'मुख्याभिषेक्त्री' इति वाक्यात् । **गङ्गायां**मिति अप्स्ववगाह्याभिषेकः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—इस समय पृथक् पृथक् शाखाओं में प्रकार भेद से यज्ञ होते हैं, इसी तरह पत्नी संयाज पर्यन्त याग क्रिया के नमुने हैं अथवा एक हजार प्रकार के याग प्रचलित हैं । उस पक्षानुसार जो द्रव्य बढ़ते हैं उन द्रव्यों से पत्नी संयाज (याग) स्वतन्त्र प्रकार से पृथक् ही किये जाते हैं । अवभृथ सम्बन्धी यज्ञ अवभृथ में जो कर्म कहे हैं, उनसे किये जाते हैं, वे ही ऋत्विज आचमन तक कर्म कराने के बाद, युधिष्ठिर को अभिषेक की विधि के अनुसार स्नान कराने लगे । अभिषेक से रानी ही मुख्य कही है । बिना रानी के अकेले राजा का अभिषेक नहीं होता है, इसलिए 'कृष्णयासह' कहा है 'गङ्गायां' पद कहने से यह कहा है कि गङ्गाजल में भीतर नहाते हुए भीतर अभिषेक होता है ।।१९।।

श्लोक—**देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।**
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ।।२०।।

श्लोकार्थ—मनुष्यों के नगाड़ों के साथ देवताओं के नगाड़े भी बजने लगे, देव, ऋषि और पितृगण तथा मनुष्य पुष्प वर्षा करने लगे ।।२०।।

सुबोधिनी—तस्य यागकृतिः सर्वसंमता जातेति ज्ञापयितुं **देवदुन्दुभीनां** वादनम् । **नरदुन्दुभयः** लौकिकाः । अभिलषितसमये नरदुन्दुभिवादनं तदैव देवदुन्दुभीनामपीति । देवा | इच्छानुसारिणो जाता इति ज्ञापयितुं सहभावो निरूपितः । देवत्वसंपादककर्मापेक्षयापि राजसूयो महानिति ज्ञापयितुं **मुमुचुः पुष्पवर्षाणीत्याह** ।।२०।।

व्याख्यार्थ—उसके यज्ञ की कृति पूर्णता एवं सुन्दरता में सम्मति सर्व ने दी यह जताने के लिए ही उस समय देवों ने नगाड़े बजाये, मनुष्यों के नगाड़े तो लौकिक हैं, जिस समय बजने चाहिये उस समय मनुष्यों ने बजाये तो देवों ने भी साथ ही बजाये, यों करने से देव भी इच्छानुसारी हुए । यह जताने के वास्ते साथ बजाने को कहा है, देवपन सम्पादन करने से भी राजसूय महान् है यों बताने के लिए देवादि सर्व ने पुष्पों की वर्षाएं की है ।।२०।।

श्लोक—**सस्नुस्तत्र ततः वर्णाश्रमयुता जनाः ।**
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।।२१।।

श्लोकार्थ—अनन्तर वहाँ सर्व वर्णाश्रम वाले मनुष्यों ने स्नान किया जिस स्नान से महा पापी भी शीघ्र ही पाप से छूट जाता है ।।२१।।

सुबोधिनी—ततो राजसन्निधौ **सर्व** एव **सस्नुः** । पतितपाखण्डानां तत्र प्रवेशाभावाय **वर्णाश्रमयुता जना** इत्युक्तम् । माहात्म्यमाह **महापातक्यपीति** । **सद्यः** स्नानानन्तरमेव अकस्मात्समागतः अभ्यनुज्ञया स्नाति चेत् ।।२१।।

व्याख्यार्थ— पश्चात् राजा के समीप ही सर्व ने स्नान किया, श्लोक में 'वर्णाश्रमयुताजनाः' वर्ण और आश्रम धर्म पालने वाले मनुष्यों ने स्नान किया यों कहने का भावार्थ यह है, कि यज्ञ में अधर्मी और पाखण्डी जनों ने प्रवेश ही नहीं किया था । यज्ञान्त स्नान करने का महात्म्य कहते हैं कि महान् पापी भी स्नान करने से शीघ्र ही पाप से छूट जाता है चाहे उसने अचानक आकर सम्मति लेकर केवल स्नान किया हो ।।२१।।

आभास—ततो राज्ञः लौकिकोत्कर्षार्थमलंकरणमाह **अथेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् राजा के लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए शृंगार करने का 'अथराजाऽहते' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः ।**
ऋत्विक्सदस्यब्रह्मादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् राजा नये दो वस्त्र धारणकर उत्तम अलंकारों से अलंकृत हुआ अनन्तर ऋत्विज सभासद और ब्राह्मण आदि सर्व का आभरण तथा वस्त्रों से सत्कार किया ॥२२॥

सुबोधिनी—एतावत्कालं त्वनलंकृतः नित्यमे न्यस्तभूषणत्वात् । **अहते** नूतने । **क्षौमे** 'सौम्यं वै क्षौमम्' इति सोमेन वरदत्ते इव परिधाय **स्वलंकृतो** जातः । ततोऽन्यानपि ऋत्विगादीन् स्वसमानवेषान् कृतवान् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इतना समय अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेकर जब तक यज्ञान्त स्नान कर्म पूर्ण किया तब तक राजा ने अलंकार आदि धारण करना शास्त्राज्ञानुसार छोड़ दिये थे। इसलिए राजा अलंकार रहित था। अब यज्ञ का सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाने के अनन्तर राजा ने दो रेशमी वस्त्र पहने और सुन्दर अलंकार धारण किए, रेशमी वस्त्र सौम्य हैं अर्थात् ये वस्त्र चन्द्रमा ने मानो वरदान में दिए हैं, इसलिए रेशमी वस्त्र पहने हैं। राजा ने स्वयं कपड़े पहन अलंकार धारण कर अनन्तर ऋत्विज, सभासद आदि को भी अपने समान वस्त्र और अलंकारों से अलकृत किया ॥२२॥

श्लोक—**बन्धुज्ञातिनृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।**
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भगवत्परायण राजा ने बान्धवों, सम्बन्धियों, राजाओं, मित्रों, स्नेहियों और अन्यों की बार बार सर्व प्रकार पूजा की ॥२३॥

सुबोधिनी—यथायोग्यं **बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रान् सुहृदश्च अन्यांश्च** समागतान् सर्वप्रकारेण पूजायामत्र कालो न नियामकः किंतु पुरुषा एवेति ज्ञापयितुमभीक्ष्णमित्युक्तम् । **पूजयामासेति** विधिरुक्तः न तु लौकिकम् । अनेननास्मिन् प्रकरणे राज्ञः केवलस्य वैदिकी चेष्टा, अन्येषां तु लौकिक्येवेति । ननु विहिताः परिच्छिन्ना एव भवन्ति यागाङ्गभूताः किमिति सर्वानेव पूजयामासेत्याकाङ्क्षायामाह **नारायणपर** इति । तस्य भगवत्पूजायामेव तात्पर्यं तेन तदात्मकाः सर्व इति श्रद्धया सर्वपूजनम् । **नृपत्वात्समृद्धिः** ॥२३॥

व्याख्यार्थ—यज्ञ कर्म में आए हुए बान्धव, सम्बन्धी नृपति, मित्र, स्नेही और अन्य इन सबों की सर्व प्रकार से पूजा की इस पूजा में काल नियामक नहीं था, किन्तु पूजा करने वाले नियामक थे। पूजा करने वाले काल का विचार न कर बार २ विधि पूर्वक पूजा करने लगे न कि लौकिक प्रकार से पूजा की, इससे यों बताया है कि राजा के द्वारा जो भी यज्ञ सम्बन्धी कार्य किसी के भी हस्त से हो किन्तु वह विधि पूर्वक ही होता था। 'अन्यों का कार्य भले लौकिक होता हो'। यज्ञ में विहित यज्ञ के अंगभूत थोड़े ही होते हैं तो फिर राजा ने सर्व की पूजा कैसे की, इसके उत्तर में कहा है कि 'नारायणपर' नारायण के परायण होने से उसका आशय भगवान् की पूजा करने का था, किन्तु भगवान् परायण होने से उसकी दृष्टि ऐसी थी कि ये सर्व भगवद्रूप हैं अतः श्रद्धा से सबकी पूजा की, राजा होने से पूजा के लिए धनादि की कमी नहीं थी ॥२३॥

आभास—राजपूतानां सर्वेषां शोभामाह **सर्वे जना** इति ।

आभासार्थ—राजा ने जिनका पूजन किया उनकी शोभा का वर्णन 'सर्वे जनाः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्ध्यहाराः ।**
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दपुष्टवक्त्रश्रियः कनकमेखलयाविरेजुः ॥२४॥

श्लोकार्थ—सब पुरुष मणियों के कुण्डल, माला, पगड़ी, जामा, रेशमी वस्त्र व अमूल्य हार धारण किये हुए देवताओं के समान देदीप्यमान हो रहे थे। स्त्रियां भी कुण्डल युगल व अलंकारों से सुशोभित मुख हो सुवर्ण की मेखला से शोभायमान लगती थीं ॥२४॥

सुबोधिनी— अन्तर्बहिश्च दोषा निवृत्ताः । इच्छापूरणादाभरणैश्च कान्त्या **सुररुचो** जाताः । तत्र हेतुभूतं विशेषणं **मणिकुण्डलेति** । **मणियुक्ते कुण्डले स्रजः उष्णीषं कञ्चुकं दुकूलं** मध्यबन्धनं **महार्ध्यश्च हारो** येषाम् । **नार्यश्च** तथालंकृताः । चकारेण तद्धर्मोक्तिः । विशेषमाह **कुण्डलयुगेनालकवृन्देन च पुष्टा वक्त्रश्रीर्यासाम्** । शुतरां **कनकमेखलया विरेजुः** । एतदन्ता लौकिकी शोभा ॥२४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार यज्ञ के सर्व कर्म के पूर्ण हो जाने से भीतर के और बाहर के दोष दूर हुए, इच्छा के पूर्ण होने से और आभरण धारण करने की कान्ति से देव समान तेजस्वी देखने में आए ऐसा देखने में हेतु मणियों से जड़ित कुण्डल मालाएं, पगड़ी, कञ्चुक[1], रेशमी[2] वस्त्र अमूल्य हार धारण किए हुए पुरुष शोभते थे।

इसी प्रकार 'च' से प्रकट होता है कि स्त्रियाँ भी श्रृङ्गार से सुसज्जित कुण्डलों की जोड़ी से तथा लहकती हुई केशों की लटों से जिनके मुखों की शोभा बढ रही है ऐसी स्त्रियाँ सोने की मेखला (कँदोरे) से विशेष शोभित हो रहीं थी, यहाँ तक लौकिक शोभा कही है ॥२४॥

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण समागतानां निर्गमनमाह **अथर्त्विज** इति ।

आभासार्थ—अब भिन्न क्रम से आए हुए सभासदों के जाने का प्रकार 'अथर्त्विजो' श्लोक में कहते हैं।

१—जामा २—गले में पहनने का वस्त्र दुपट्टा अथवा कमर में बाँधने का वस्त्र।

श्लोक—**अथर्त्विजो महाशाला: सदस्या ब्रह्मवादिन: ।**
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागता: ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! अनन्तर श्रोत्रिय ऋत्विज और ब्रह्मवादी सदस्य एवं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा भूपगण आये थे । (वे तथा और २६वें श्लोक में दिये गये हैं ।)

सुबोधिनी—अग्रे वक्ष्यमानभङ्ग: प्रत्यापत्ति-पर्यन्तं मध्ये केनाप्यंशेन न्यूनतायां तेनैव दुष्टानां इति संतोष न मात्सर्यं पुष्टं भवेदिति प्रत्यापत्ति-पर्यन्तं वर्णना **महाशाला:** श्रोत्रिया: । तेषामेवार्त्विज्यम् **सदस्यास्तु ब्रह्मवादिन:** । त एव सर्वज्ञा: । एवमुभये अपेक्षितधर्मयुक्ता निरूपिता: । अन्ये विप्रादय: । तेषामागमनमेव प्रयोजकं तदाह **ये समागता** इति ।।२५।।

व्याख्यार्थ—आगे दुर्योधन के मान के नाश का वर्णन करना है अत: सब लौट कर जावे वहाँ तक वर्णन किया है । कारण कि, यज्ञ के बीच में किसी भी अंश से न्युनता (कमी) हो तो दुष्टों को सन्तोष होवे यों न होवे तो मत्सरता सबल न होवे इसलिए ही लौट जाने तक वर्णन है 'महाशाला' पद से यह बताया है कि वहाँ जो ऋत्विग् हुवे थे वे सब श्रोत्रिय विद्वान थे, जो सभासद तो ब्रह्म-वादी होने से सर्वज्ञ थे, इस प्रकार दोनों ऋत्विज और सभासदों में जो धर्म चाहिए वे धर्म उनमें विद्यमान (मौजूद) थे दूसरे ब्राह्मण आदि जो भी आए थे, उनका आना आवश्यक था, इसलिए कहा है कि 'ये समागता:', जो आये, पद से उनकी आवश्यकता कही है ।।२५।।

आभास—तदा देवादीनामपि ।

आभासार्थ—इसी प्रकार से जो देव आदि आए उनके लौटने का प्रकार 'देवर्षि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**देवर्षिपितृभूतानि लोकपाला: सहानुगा: ।**
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ।।२६।।

श्लोकार्थ—देव, ऋषि, पितर, प्राणियों और सेवकों सहित लोकपाल राजा से सत्कार पाकर उससे (राजा से) आज्ञा लेकर अपने-अपने धाम को गये ।।२६।।

सुबोधिनी—ते सर्वे पूजिता: सन्त: मुदा **स्वधामानि ययु:** । **नृपेति** संबोधनं समाप्तौ संतोषाय ।।२६।।

व्याख्यार्थ—वे सब (२५-२६ श्लोक में कहे हुए) पूजे हुए प्रेम से अपने २ धाम को लौट गए, नृप ! यह सम्बोधन समाप्ति में सन्तोष के लिए दिया है ।।२६।।

आभास—तेषां मानसं कायिकं चोक्त्वा वाचनिकमाह **हरिदासस्येति** ।

आभासार्थ—उनका मानस और कायिक सत्कार कह कर अब 'हरिदासस्य' श्लोक में वाणी से किये गये सत्कार का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।**
नेवातृप्यन्प्रशंसन्त: पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ।।२७।।

श्लोकार्थ—जिस तरह मनुष्य अमृत पीते हुए तृप्त नहीं होता है, वैसे ही हरि के दास, राजर्षि के राजसूय यज्ञ की विशेष प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हुए ।।२७।।

सुबोधिनी—**राजर्षे:** स्वधर्मनिरतस्य हरि-**दासस्य** च प्रमाणप्रमेयबलपुष्टस्य । तत्रापि **राज-सूयस्य** तत्रापि **महोदयम्**, अत एव **प्रशंसन्त:** स्वय-मेव नैवा**तृप्यन्** । अन्येच्छया वर्णनायां तदिच्छा-पूर्तौ निवृत्तिरपि भवेत् । इदं तु स्वार्थमेवेति निरन्तरं प्रशंसा । प्रतिक्षणं तु रुच्याधिक्याय दृष्टान्तमाह **मर्त्यो** मरणधर्मा, **अमृतं** स्वादिष्ठं मरणनिवर्तकं चेति । अनुभवपर्यवसानाभ्या-मुत्कृष्टान्न निवर्तते । अत्रापि तदासक्त्या वर्णनायां 'यो यच्छ्रद्ध:' इति न्यायेन राजतुल्यत्वसंपादक त्वादनिवृत्तिर्युक्तेत्यर्थ: ।।२७।।

व्याख्यार्थ—राजा युधिष्ठिर अपने राजधर्म में आसक्त था । अत: प्रमाण बल से पुष्ट था । जिससे राजर्षि हुआ इसी प्रकार भगवान् के दास होने से भक्ति में आसक्त था, जिससे हरिदास कहलाए अत: प्रमेय बल से पुष्ट था, यों होते हुए भी महान् यज्ञ राजसूय यज्ञ किया जिससे भी राजा का महान् उदय हुआ अत: एवं प्रशंसा करते हुए वे तृप्त ही न हुए यदि दूसरे की इच्छा से किसी की स्तुति की जाती है, तो उसकी इच्छा पूर्ति होने पर स्तुति बन्द की जाती है । यह तो अपने मन: सन्तोष के लिए की जाती है इसलिए निरन्तर प्रशंसा कर रहे थे तृप्ति होती ही नहीं, ज्यों २ स्तुति करते त्यों त्यों प्रतिक्षण आनन्द आ रहा था जिससे स्तुति के लिए रुचि बढती जाती थी, जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मनुष्य मरण को मिटाने वाले स्वादिष्ट अमृत को पीते हुए तृप्त नहीं होता है वैसे ये भी तृप्त नहीं हुए, अनुभव करते समय अर्थात् पीते समय स्वादिष्ट लगने से तृप्ति न होने से छोड़ा नहीं जाता है और पीने के बाद मरण मिटाने वाला होने से त्यागा नहीं जाता है इसी प्रकार यहाँ भी प्रशंसा में आसक्ति होने से वर्णन करते ही रहते हैं क्योंकि 'योयच्छ्रद्ध: सएवस:' इस प्रमाणानुसार वे समझते थे कि यह प्रशंसा हमको राजा के समान बना देगी, इसलिए प्रशंसा का त्याग न करना यह उचित ही है ।।२७।।

आभास—लौकिकं बन्धुषु विशेषतो वक्तव्यमिति साधारणतुल्यत्वे न शोभेति साधारणेषु गतेषु बन्धून् स्थापयामासेत्याह **तत** इति ।

आभासार्थ—अपने बान्धवों से विशेष व्यवहार करना चाहिए साधारणों जैसा व्यवहार करने से शोभा नहीं अत: साधारणों को विदा कर बान्धवों को रोक रखा जिसका वर्णन 'ततो युधिष्ठिरो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।**
प्रेमणा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातर: ।।२८।।

श्लोकार्थ—बान्धवों को रवाना करने से दुःखी राजा युधिष्ठिर ने, अपने मित्र, सम्बन्धी और बान्धवों को तथा श्रीकृष्ण को जाने से रोक अपने पास प्रेम पूर्वक ठहराया ॥२८॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छैवैषा यतोऽनर्थोऽग्रे भविष्यतीति । **सुहृदो** मित्राणि । **संबन्धिनो** विवाह्याः । **बान्धवा** गोत्रिणः । **प्रेम्णेति** याग-समये बान्धवाः परिचर्यामेव व्यापृताः न सुखेन भोगं प्राप्तवन्तः । अतः संमर्दे निवृत्ते सहभोगेच्छया स्नेहेन तेषां स्थापनमित्यर्थः । **कृष्णं** चेति विशेषार्थमुक्तम् । बहुकालं स्थापनं सूचयति **त्यागकातर** इति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—आगे अनर्थ होगा क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी 'सुहृद मित्र सम्बन्धिनः' जिनसे कन्या लेन देन का सम्बन्ध हो सके वे 'बान्धवाः' गोत्र वाले इनको अपने यहाँ ठहराया, 'प्रेम्णा' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि यज्ञ के समय अपने बान्धवादि सब सेवा कार्य में लगे हुए थे, जिससे वे सुख पूर्वक भोजनादि न करपाये थे । अतः सब कोलाहल के शान्त हो जाने से अब स्नेह से साथ बैठ कर भोजनादि करेंगे इसलिए प्रेम पूर्वक इनको जाने से रोका था और श्रीकृष्ण को पृथक् २ कहा जिसमें भी विशेष प्रयोजन था, छुट्टी देने से राजा को संताप होता था, इस वाक्य से समझा जाता है कि राजा ने इनको बहुत समय अपने पास ठहराया था ॥२८॥

आभास—सर्वे बान्धवा अविशेषात्तत्र स्थिताः, कार्यान्तरमप्यस्तीति कदाचिदस्थितिमाशङ्क्याह **भगवानेवेति** ।

आभासार्थ—सब बन्धुगण तो विशेष कार्य न होने से वहाँ ठहर गए, भगवान् को तो अन्य कार्य भी है उनकी कदाचित् स्थिति न हो सके इस शङ्का का उत्तर 'भगवानेव' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**भगवानेव तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियंकरः ।**
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! भगवान् यादव वीरों को और साम्ब आदि को कुशस्थली (द्वारका) भेजकर, आप ही उसका (युधिष्ठिर का) प्रिय करने वाले होने से, वहाँ ही बिराजे ॥२९॥

सुबोधिनी—अङ्गेत्यप्रतारेण **तत्रैवावात्सी**दिति । **एव**कारेण सभार्यस्य वसतिर्निरूपिता । कार्यान्तरार्थं स्वप्रतिनिधितया अन्यान् प्रस्थापितवानित्याह **प्रस्थाप्ये**ति । भगवति विद्यमाने रक्षा विलासश्च द्वारकायां भवेत् तत्रैकेन द्वयं न सिद्ध्यतीति रक्षार्थं **यदुवीरान्** विलासार्थं **साम्बादींश्च** प्रस्थापितवान् । तच्च स्वभावतः सभयं स्थानमाह **कुशस्थलीमि**ति । कुशो दैत्य इति तस्यां भूमौ दैत्योपद्रवसंभवः ॥२९

व्याख्यार्थ—हे अंग (राजन्) यह सम्बोधन देकर शुकदेवजी ने राजा को सूचित किया है कि मैं तुमसे वंचना नहीं करता हूं अर्थात् जो वास्तविक है वही कहता हूं, वहाँ ही रहे, ही शब्द से यह

कहा कि भगवान् अकेले नहीं रहे किन्तु स्त्री सहित रहे, अन्य कार्यों की पूर्ति के लिए अपने प्रतिनिधि रूप से दूसरों को भेज दिया । भगवान् की उपस्थिति में रक्षा और विलास दोनों द्वारका में हो सके उनकी अनुपस्थिति में एक से दो कार्य न हो सकेंगे अतः रक्षा के लिए यदुवीर और विलासार्थ साम्बादि दोनों को भेजा । वहाँ ऐसा क्या है ? जो रक्षा आवश्यक होने से यदुवीरों को भेजा जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह स्थान स्वभाव में भय का है, क्योंकि यहाँ कुश दैत्य होने से सदैव उसका उपद्रव होता रहता है ॥२९॥

आभास—यागपूर्वं मध्ये अन्ते च यावदभीप्सितं तावद्राज्ञो जातमिति राजकृत्यमुपसंहरति **इत्थं राजेति** ।

आभासार्थ—यज्ञ आदि में, मध्य में और अन्त में जो चाहता था वह राजा को प्राप्त हुआ, इसलिए 'इत्थं राजा' श्लोक में राजा के कार्य का उपसंहार करते हैं।

श्लोक—**इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।**
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥३०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की सहायता से मनोरथ रूप महान् सदुस्तर समुद्र को पार कर निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

सुबोधिनी—**राजे**ति स्वधर्मवत्त्वम् । **धर्मसुत** इति बीजशुद्धि । **मनोरथ** एव **महानर्णवः** महत्त्वात् प्रतिबन्धकनक्रसङ्घावाच्च । अत एव **सुदुस्तरमन्यैः** स्वस्यापि । परं **कृष्णेन समुत्तीर्य गतमानसज्वर आसीत्** । यथा वैष्णवधर्मैः ज्वरादिकं समुद्रे निक्षिप्य उत्तीर्णो विज्वरो भवतीत्यर्थः ।३०।

व्याख्यार्थ—'राजा' कहने का यह भाव प्रकट किया है कि अपने धर्म का पूर्ण रीति से पालन करता था । 'धर्मसुतः' धर्मराज का पुत्र होने से उसके बीज की शुद्धि नहीं थी । मनोरथ ही महान् समुद्र था । महान् समुद्र कहने का भाव यह है कि जैसे समुद्र में अनेक मगरमच्छ आदि दुःख देने वाले रहते हैं वैसे ही मनोरथों में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्धक (जरासंध आदि) थे । इस कारण से ही उनसे अपनी सामर्थ्य से अथवा भ्राता आदि के सामर्थ्य से पार होना अति कठिन था । किन्तु श्रीकृष्ण की सहायता से उन प्रतिबन्धों को नष्ट कर अपने मनोरथ पूर्ण किये जिससे निश्चिन्त हुआ । जैसे वैष्णव धर्म को पालन करने से मनुष्य चिन्ता आदि को समुद्र में फेंक कर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण के आश्रय से निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

आभास—अतः परं भूभारहरणाख्यं भगवच्चरित्रं वक्तुं दुर्योधनमानभङ्गमाह **एकदेति** ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर भूमि के भार को हरण करने वाला भगवान् का चरित्र वर्णन करने के लिए 'एकदा' श्लोक में दुर्योधन के मानभंग को कहते हैं।

श्लोक—एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ।।३१।।

श्लोकार्थ—एक दिन श्रीकृष्ण में आसक्त चित्त वाले उस युधिष्ठिर के अन्तःपुर में समृद्धि और राजसूय की महत्ता देख, दुर्योधन दुःखी होने लगा ।।३१।।

सुबोधिनी— दुर्योधनादिष्वपि भीष्मादयो ज्येष्ठा गृहे गताः । यैर्यागे कर्माणि कृतानि त एव स्थिताः । पूर्वं यागावेशात् न मात्सर्योत्पत्तिः । पश्चात्तु सहजदोषाविर्भावात् मात्सर्यं जातमित्याह **तस्यान्तःपुरे श्रियं स्त्रीरूपां धनरूपां च दृष्ट्वा** वैदिकोत्कर्षं राजसूयं च **दृष्ट्वा अच्युतात्मन** इति भक्त्यतिशयं च दृष्ट्वा मार्गत्रयसंपत्तौ स्वस्यापि युधिष्ठिरतुल्यत्वं मन्यमानः त्रितयमध्ये एकस्याप्यभावा**दतप्यत्** ।।३१।।

व्याख्यार्थ—कौरवों में बड़े भीष्म आदि तो घर गए, जिन्होंने यज्ञ में कार्य किए थे, वे ही ठहरे थे, उनमें दुर्योधन भी था अतः वह ठहर गया था, दुर्योधन का यज्ञ के कार्य में लगे होने से और उसके (यज्ञ के) ही आवेश से पहले मात्सर्य उत्पन्न न हुआ । यज्ञ कार्य की समाप्ति के बाद स्वाभाविक दोष उद्भव होने से, मत्सरता पैदा हुई, क्यों उत्पन्न हुई ? वह बताते हैं कि उसके (राजा युधिष्ठिर के) अन्तःपुर में स्त्री रूप और धन रूप समृद्धि देख तथा राजसूय यज्ञ से वैदिक उत्कर्ष भी देख दुर्योधन सहन न कर सका जिससे दुःखी होने लगा, विशेष में राजा की श्रीकृष्ण में ही आत्मा लगी होने से उसका भक्तोत्तमत्व जान कर भी दुःखी हुआ, दुर्योधन यों देख दुःखी क्यों हुआ ? जिसको कहते हैं कि दुर्योधन अपने को युधिष्ठिर के समान समझता था किन्तु ऊपर कही हुई तीन सम्पत्ति में से एक भी अपने पास न होने से शोक में तपने लगा ।।३१।।

आभास— तत्र धनकृतां श्रियं वर्णयति **यस्मिन्निति** ।

आभासार्थ—वहाँ जो धन की समृद्धि देखी उसका वर्णन 'यस्मिन्नरेन्द्र' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यस्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीर्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपकल्पाः ।
ताभिः पतिं द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ।।३२।।

श्लोकार्थ—महाराजा युधिष्ठिर के अन्तःपुर में भगवान् की बनाई हुई, राजाओं की उत्तम दैत्यों की तथा उत्तम देवों की अनेक प्रकार की सम्पत्तियां शोभा दे रहीं थीं । उन सम्पदाओं से द्रोपदी अपने पतियों की सेवा करती थी, उसे देख द्रोपदी में आसक्त चित्त वाले दुर्योधन का मन डोल गया और जलने लगा ।।३२।।

सुबोधिनी—**नरेन्द्रा** मनुष्यराजानः तेषां संपत्तिर्मानुषी । **दितिजेन्द्रा** दैत्यश्रेष्ठाः तेषां संपत्तिरासुरी मायाप्रचुरा । **सुरेन्द्रा** देवश्रेष्ठाः तेषां संपत्तिरलौकिकी विचित्रा । ताः सर्वा अपि नानाविधाः ताः सर्वा एव राज्ञोन्तःपुरे **विभान्ति** किलेति प्रमाणम् । ननु प्रतिनियताः कथं मनुष्ये सर्वा जाता इत्याशङ्क्याह **विश्वसृजोपकल्पा** इति भगवता नूतना रचिताः । तेन तत्तदपेक्षयाप्युत्कर्ष उक्तः । ताभिः समृद्धिभिः सह **स्वपतिं द्रुपदराजसुता उपतस्थे** । ततः किमत आह **यस्यां विषक्तहृदय** इति । सर्वोत्कर्षोयमर्थः यथा कथंचित् प्राप्तः यथा पञ्चभिर्भुज्यते तथास्माभिरपि भोक्तव्यं इति तस्येच्छा, अतस्तस्यां **विषक्तहृदयः कुरुराट्** तदतिशयसर्वविषययुक्तः **अतप्यत्** परमं कामसन्तापं प्राप्तवान् ।।३२।।

व्याख्यार्थ—'नरेन्द्राः' मानवों के राजा उनकी सम्पत्ति मानुषी सम्पत्ति कही जाती है । 'दितिजेन्द्राः' दैत्यों में उत्तम दैत्य राज्यों की सम्पदा आसुरी है वह माया प्रचुर होती है । 'सुरेन्द्र' देवताओं में श्रेष्ठ उनकी सम्पत्ति अलौकिकी तथा विचित्र होती है । वे सब ही अनेक भाँति की राजा के अन्तःपुर में शोभा दे रही थी । 'किल' पद से बताया है कि यों कहा हुआ प्रमाण है, अर्थात् सत्य है ऊपर कही हुई सम्पदायें जिनकी कही हुई हैं उनसे मनुष्य के पास कैसे आई ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विश्वसृजोपकल्पा' ये जो सम्पदायें दुर्योधन ने देखी वे सब विश्व को बनाने वाले भगवान् ने स्वयं बनाई है, यों कहने से यह समझाया है कि राजा, उत्तम दैत्य और उत्तम दैवों की सम्पत्ति से भी ये उत्कृष्ठ हैं । उन समृद्धियों से द्रुपदराज की कन्या द्रोपदी अपने पति की सेवा करती थी । यों होने से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसी समृद्धि शोभा और द्रोपदी की पति सेवा आदि देख दुर्योधन का मन उसमें (द्रोपदी में) आसक्त हो गया और यों मनमें विचारने लगा कि जैसे द्रोपदी का भोग पांच कर रहे हैं, वैसा मैं करूं, क्योंकि मैं भी कुरुराज हूँ मेरे पास भी उत्तम सर्व पदार्थ हैं इस प्रकार काम सन्तप्त होने से बहुत दुःखी हुआ ।।३२।।

आभास—एवमाद्यन्तौ दोषौ वर्णितौ, मोहं वर्णयितुं भगवत्संबन्धिलीला तत्र वर्णयति **यस्मिन्निति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार आदि और अन्त वाले दो दोष वर्णन किए, अब! मोह का वर्णन 'यस्मिंस्तदा' श्लोक में करने के लिए भगवत्सम्बन्धी लीला कहते हैं ।

श्लोक— यस्मिंस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिचोभम् ।
मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं चपलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ।।३३।।

श्लोकार्थ—जहां उस समय नितंब के भार से धीरे धीरे झमकते झांझरों से शोभित चरणों वाली सुन्दर स्तनों की केशर से लाल हुवे हारों को धारण की हुई सुन्दर मुखवाली, चञ्चल कुण्डल और केश पास युक्त मधुपति (भगवान्) की सहस्र (हजार) रानियां देख दुर्योधन दुःखी हुआ ।।३३।।

सुबोधिनी—**तदा** तद्दर्शनसमये **मधुपतेर्भगवतः** व्यामोहकस्य कोटिकन्दर्परूपस्य **महिषीसहस्रं** वीक्ष्य इति पूर्वेणैव संबन्धः । भगवतोऽपि कामपूरकत्वेन बाहुल्याच्च मोहकत्वं निरूपितम् । मोहकरणमिव विशेषणमाह **श्रोणीभरेणेति** । नितम्बभररेण **शनकैः क्वणन्तावङ्घ्री** नूपुरादिभिः शोभा यस्य, नूपुरदर्शनं तच्छब्दो वा व्यामोहक इत्यर्थः । **मध्ये सुचारु** यत् **कुचकुङ्कुमं** अनेन

प्रकारविशेषेण समर्पितं कुचकुङ्कुमं निरूपितम् । मकरिकापत्रमध्ये कुङ्कुमं निरूपितमिति अति-सूक्ष्मवस्त्रव्यवधानं रसजनकमेव न दृष्टिप्रतिबन्धकं तेन मोहार्थं वर्णनमुपपद्यते । तेन यः **शोणो** हारः कमलपत्राणीव तन्मध्ये **श्रीमन्मुखं** कार्याविशे भावार्थ वा **चपलकुण्डलकुन्तलैः आढ्यं** । मध्ये **सुचारु**विति भिन्नं वा, प्रान्तस्त्रिय अपेक्षयापि मध्य-स्त्रीणां रुक्मिण्यादीनामत्युत्कृष्टत्वात् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—उस समय, अर्थात् जब द्रोपदी को देखा उस समय कोटि कन्दर्परूप मोहित करने वाले भगवान् की सहस्र (हजार) रानियाँ देख (दुर्योधन दुःखी हुआ) जैसे रानियां मोह उत्पन्न करने वाली हैं वैसे ही भगवान् भी मोहक हैं । क्योंकि एक तो आप काम पूरक होने से मोहक हैं और अनेक स्त्रियोंवाले होने से भी आप में मोहता होती है । अब भगवान् की रानियाँ को मोह होने के कारण बताते है—१ नितम्ब के भार से धीरे धीरे झणकार करती हुई झरोखों से शोभित चरणों वाली थीं, झांझर का दर्शन और उसकी ध्वनि मोह करने वाली है । छाती पर अति उत्तम जो स्तनों पर विशेष प्रकार से चर्चित चन्दन था उसका निरूपण किया, वह कुङ्कुम मकरिका[1] के पत्र के मध्य में था । अर्थात् अति सुक्ष्म वस्त्र होने से उसकी आड़ रस उत्पन्न करती थी, क्यों कि वह आड़ देखने में रुकावट नहीं करती थी, इससे यह वर्णन मोहित करने के लिए ही किया है । उस कुङ्कुम से यों दिखता था कि यह लाल हुआ हार मानों कमल पत्रों का बना हुआ है उसके मध्य में रानियों के मुख ऐसी शोभा दे रहे थे, काम में संलग्न होने से अथवा भावार्थ चलायमान कुण्डल और केशों वाली वे रानियाँ थीं ।

अथवा 'मध्ये सुचारु' पद को प्रथक् समझ कर यों अर्थ करना चाहिये कि प्रान्त (किनारे) पर चलने वाली स्त्रियों के मध्य में जो स्त्रियाँ रुक्मणी आदि थीं वे अति उत्कृष्ट थीं ॥३३॥

आभास—एवं स्त्रीणां मोहहेतुत्वमुक्त्वा नरदेवकृतमोहहेतुं संपाद्य दैत्यकृतं स्थानतो मोहहेतुमाह **सभायामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों को मोह का कारण कह कर, राजा का किया मोह का हेतु सिद्ध कर, दैत्य ने स्थान से किया हुआ मोह का कारण 'सभायां' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**सभायां मयकल्पायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।**
वृतोनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥

श्लोकार्थ—किसी समय चक्रवर्ती धर्म-पुत्र युधिष्ठिर मय की बनाई हुई सभा में अपने छोटे भ्राताओं की सेवा के और अपने नेत्र श्रीकृष्ण के साथ (बैठे) थे ॥३४॥

सुबोधिनी—**मयेन** विशेषत एतदर्थमेव **कल्पा** सभा । **क्वापि** कालस्यापि तथारूपे । **धर्मसुतेः** अर्थादधर्मभङ्गं करिष्यतीति सूचितम् । **अधिराडिति** सामर्थ्यम् । **वृतोनुगैर्बन्धुभिश्चेति** सहायः क्रियामयः । ज्ञानक्रियारूपं सहायमाह **कृष्णेनापि स्वचक्षुषेति** । अनेन दुर्योधनापेक्षयापि भगवतः सन्मानना भगवत्कृतमेव प्रमाणमिति च सूचितम् ॥३४॥

१—काम दानी ताल के पत्रों का वस्त्र ।

व्याख्यार्थ—मय ने यह सभा विशेषतया (खास तौर से) इस वास्ते बनाई थी, किसी समय यों कहने का भावार्थ यह है कि बनाने के समय काल का रूप भी वैसा ही था । युधिष्ठिर को धर्म सुत विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह अधर्म का नाश करेंगे 'अधिराट' चक्रवर्ती कह कर बताया है कि इसमें अधर्म को नाश करने का सामर्थ्य है । सेवक और बान्धव साथ थे, जिससे बताया कि क्रियामय सहायक साथ में थे । अब अपना चक्षु रूप श्रीकृष्ण साथ थे, यों कहने से सिद्ध किया है कि युधिष्ठिर को इससे ज्ञान और क्रिया रूप दोनों सहायता श्रीकृष्ण से प्राप्त थी, इससे यह सूचित किया है कि, दुर्योधन से भी, भगवान् का किया हुआ सन्मान विशेष था, जिससे भगवान् जो करे वही प्रमाण है ॥३४॥

आभास—तस्य दुर्योधनप्रदर्शनार्थं विशेषतः सिंहासनस्थितिमाह **आसीन** इति ।

आभासार्थ— दुर्योधन को दिखाने के लिए 'आसीनः' श्लोक से युधिष्ठिर की विशेष प्रकार से सिंहासन स्थिति का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**आसीनः काञ्चने साक्षादासने भगवानिव ।**
पारमेष्ठ्यश्रिया पुष्टः स्तुयमानश्च बन्धुभिः ॥३५॥

श्लोकार्थ—चक्रवर्ती की सम्पत्ति से पुष्ट और बान्धव जिसकी स्तुति कर रहे हैं वैसा महाराजा युधिष्ठिर सुवर्ण के बने हुए साक्षात् आसान पर भगवान् की तरह बैठे थे ॥३५॥

सुबोधिनी—सुवर्णसिंहासने सर्वोत्कर्ष प्राप्य **भगवानिव आसीनो** जातः, **साक्षादासन** इति । आसनशक्तिस्तत्रैव स्थापिता । यागफलरूप**पारमेष्ठ्यश्रियापि पुष्टः** । **बन्धुभिः स्तूयमान** इति मानोन्नतिः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सबसे उत्कृष्टता प्राप्त कर, भगवान् की तरह सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठ गए, 'साक्षात् आसन' कहने का भाव यह है कि भगवान् ने आसन की आधिदैविकी शक्ति इसमें ही स्थापित की है यज्ञ का फल, जो चक्रवर्ती की श्री है, उससे पुष्ट था, बान्धव स्तुति कर रहे थे, इन विशेषणों से सिद्ध है कि महाराजा युधिष्ठिर का सबसे विशेष मान हुआ है ॥३५॥

आभास—एवंविधे समये दुर्योधनः समागत इत्याह **तत्रेति** ।

आभासार्थ—'तत्र दुर्योधनो' श्लोक में कहते हैं कि उस समय वहाँ दुर्योधन आया ।

श्लोक—**तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।**
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भ्राताओं से घिरा हुआ अभिमानी दुर्योधन, मुकुट और माला धारण किए खड्ग हाथ में लेकर, क्रोध से अपमान करता हुआ सभा में प्रविष्ट हुआ ॥३५॥

सुबोधिनी—सोऽभिमानी मां सेवकं कर्तुं अक्षपीडां वा जनयितुं स्थापयतीति **भ्रातृभिः सहितः** असंमतं युद्धं वा करिष्यामीति वा निश्चित्य **क्षिपन्नितस्ततः** सर्वान्। **किरीटमाली** भूत्वा **असिहस्तः** प्रायेण कंचिन्मारयितुमिव **न्यविशत्**। **रुषेति** लौकिकन्यायेनापि तस्यादर्शनहेतुरुक्तः ।३६।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर की समृद्धि आदि देख कर दुर्योधन के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह मुझे सेवक बनाने के लिए वा इन्द्रियों को पीड़ा देने के लिए यहाँ ठहरा रहा है, इस प्रकार विचार होने से भ्राताओं के साथ यह निश्चय कर आया कि युधिष्ठिर की संमति न मिले तो भी, उससे युद्ध करूंगा, इसी कारण जहाँ तहाँ सबका अपमान करता हुआ, मुकुट और माला धारण कर मानो प्रायः किसी को मारने के लिए हाथ में तलवार ले भीतर सभा में आया, उस समय क्रोध से पूर्ण था जिससे लौकिक न्यायानुसार वह देख नहीं सकता था क्योंकि क्रोध से मनुष्य की आँखों पर अन्धकार छा जाता है जिससे उस समय देख नहीं सकता है ।।३६।।

आभास—ततस्तत्र पदार्थेषु भ्रमो जात इत्याह **स्थलेऽभ्यगृह्णादिति** ।

आभासार्थ—रोषान्ध होने से उसको सभा के पदार्थों में भ्रम उत्पन्न हुआ यह 'स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्र' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत्।**
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ।।३७।।

श्लोकार्थ— वहाँ वह क्रोधी 'मय' की माया से, ऐसा मोहित हो गया, कि जहाँ स्थल था वहाँ जल समझ कर वस्त्रों को समेटने लगा और जहाँ जल था वहाँ स्थल समझ कर जल में गिर पड़ा।

सुबोधिनी—काचादिभिः कृत्वा तथा कृतवान् ततः **स्थल** एवं जलबुद्ध्या **वस्त्रान्तं** स्वभावाद्- **भ्यगृह्णात्**। **तत्रहेतुः जलं मत्वेति** । न केवलं वस्त्रग्रहणमात्रं किंत्वेतन्निम्नस्थानमिति **जले** प्रविशन्निव **स्थल** एवापतत्- । एवं **जले** च स्थलबुद्ध्या सवस्त्र एवं प्रविष्टः निम्नत्वात् पतितः। तत्र हेतुः **स्थलवाद्भ्रान्त्येति** । यथा स्थले पूर्वं जलभ्रमो जातः। एवमत्रापि स्थले जात इत्यर्थः । तत्राप्रत्याख्येयहेतुमाह **मयमायाविमोहित** इति। यो हि दुष्टः साभिमानः क्रोधेन तं देशं प्रविशति तस्य भ्रमो भवतीति काचिन्माया देवतारूपा तस्यां सभायां **मयेन** स्थापिता सा तथैव विरुद्धं भ्रामयतीति **मायया विमोहितः** ।।३७।।

व्याख्यार्थ—मय ने वहाँ सभा काँच की धातु से ऐसी बनाई थी जहां जल में थल देखने में आवे और थल हो वहां जल की भ्रान्ति हो। दुर्योधन क्रोध में तो था ही, इससे भी जहाँ स्थल था वहां जल समझ कर अपने वस्त्रों के पल्लों को ऊपर इसलिए समेटने लगा कि जल में भीग न जाय इतना ही नहीं किन्तु उस स्थान को नीचा स्थान समझ कर जैसे मनुष्य जल में प्रवेश करता है उसी तरह प्रवेश करने से स्थल पर भी गिर पड़ा। इसी प्रकार, जल को स्थल समझ वहाँ जाने लगा तो वह नीचा स्थान और जल मय होने से वस्त्र सहित उसमें भी गिर पड़ा। क्रोधान्ध होने से भी

विशेष भ्रम उत्पन्न होने से स्थल में जल और जल में स्थल समझने लगा। मय की माया से भी विमोहित हुवा, जो दुष्ट अभिमानी होता है एवं क्रोध से उस देश में प्रवेश करता है उसको भ्रम ही होता है कोई माया जो देवता रूप होती है, मय ने उस सभा में वह माया स्थापित की थी, जिससे माया से मोहित को पदार्थ विरुद्ध देखने में आते थे ।।३७।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **जहासेति** ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह 'जहास' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।**
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे राजन्! जल में थल, थल में जल के भ्रम से जो दुर्योधन की दशा हुई उसको देख भीमसेन, स्त्रियां और दूसरे भूपति हँसने लगे, यद्यपि युधिष्ठिर ने बहुत रोका था किन्तु श्रीकृष्ण के अनुमोदन से हँस कर उसकी हँसी कर डाली ।।३८।।

सुबोधिनी—तमन्धमिव **दृष्ट्वा भीमस्तत्प्रति**- कूलैकस्वभावः। **स्त्रियः** सर्वा स्वभावतः। **अपरे नृपतयः** ये न दुर्योधनसंबन्धिनः। ननु राजसभायां हास्यमनुचितमिति चेत्। तत्राह **निवार्यमाणा अपीति**। **राज्ञा निवार्यमाणा अपि** स्वतोऽनुचितस्य का वार्ता। तत्र हेतुः **कृष्णानुमोदिता** इति। अन्तःकरणे बहिश्च। एतदर्थमेवैतावानुद्यम इति ।।३८।।

व्याख्यार्थ—उसको अन्धक समान देखकर भीमसेन जो उससे स्वभाव के कारण सहज विरुद्ध है, वह स्वभाव से सब स्त्रियाँ, जो दुर्योधन के सम्बन्धी नहीं थीं वे दूसरे भूपति भी हँसने लगे अर्थात् हँसने से उसकी हँसी की, यदि कहो कि राजसभा में यों किस पर भी हँसना उचित नहीं हैं, जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपही अनुचित समझ कर नहीं हँसे इसका क्या कहा जाय किन्तु राजा ने रोका कि हँसो मत, तो भी रुके नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण ने दोनों प्रकार हँसी करने का अनुमोदन किया। १-अन्तर्यामी रूप से हँसने की प्रेरणा की। २-बाहर साक्षात् अनुमोदन किया इसलिए ही इतना उद्यम किया गया है ।।३८।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **स व्रीडित** इति ।

आभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुवा वह 'स व्रीडितो' श्लोक में कहते है।

श्लोक—**स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम्।**
हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत्।
बभूव तूष्णीं भगवान्भुवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ।।३९।।

श्लोकार्थ—वह दुर्योधन लज्जित हो मुख नीचा कर क्रोध से जलता हुआ, सभा से निकल कर चुपचाप हस्तिनापुर चला गया। उस समय सत्पुरुषों ने बड़ा हाहाकार शब्द किया और युधिष्ठिर उदास से हो गये'। जिनकी दृष्टि से यह सब फिरता रहता है वे श्रीकृष्ण तो शान्त ही बैठे रहे, क्योंकि उनको पृथ्वी का भार उतारना था इसलिए ही यह खेल रचा था ॥३६॥

सुबोधिनी—**अवाग्वदनो** बहिः। ततोऽपमानेन जातो महान् **रोषः** तेन **ज्वलन्निव** तस्मात्। स्थानात् भीमभर्त्सनमकृत्वैव **तूष्णीं निष्क्रम्य** तूष्णीं राजानं गमिष्यामीत्यननुज्ञाप्य **गजाह्वयमेव प्रययौ**। यमुनामुत्तीर्य गत एव। ततो महान् बन्धुरेवं गत इति **हाहेति शब्दः सुमहानभूत्** सोऽपि **सतामेव** भूतानुकम्पिनाम्। राजा च **अजातशत्रुत्वाद्विमना अभवत्**। **इवेति** भगवदनुमोदनात्किञ्चिदस्तीति ज्ञातवान्। भगवांस्तु नोपहासं न वा विषादं किमपि कृतवानित्याह **बभूव तूष्णीमिति**। पुनः सन्माननायां भूभारहरणं न भवेत् तन्मारणे वा पाण्डवानां गर्वो न गच्छेदिति। भगवान् सर्व-समस्तूष्णीमास। यतो भुवो भारं **जिहीर्षुः**। नन्वेवं कृते कथं भूभारहरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह यद्यस्मात् कारणात् भगवान् **दृशा** ज्ञानचक्षुषा ज्ञानेनैव सह **भ्रमति** साध्यसाधनभावः सर्वोऽपि तस्य प्रत्यक्षः इत्यर्थः। **स्मेति** सर्वलोकवेदप्रसिद्धिरत्र प्रमाणं निरूपितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—दुर्योधन बाहर से नीचे मुख वाला हुआ, पश्चात् अपमान के कारण अत्यन्त क्रोधित हुआ उस क्रोध से जलता हुआ, भीम को बिना धमकाए और राजा से आज्ञा भी न लेकर चुपचाप हस्तिनापुर गया। यमुना पार कर चला गया, अनन्तर यह महान् बंधु इस प्रकार अपमानित हो रुष्ट होकर चला गया, जिससे प्राणी मात्र पर दया करने वाले सत्पुरुषों ने जोर से हाहाकार शब्द किया। राजा तो किसी को शत्रु नहीं समझता है, इसलिए उदास से हो गये, पूर्ण उदास न हुआ। क्योंकि भगवान् ने यों हास्यादि से इसका अपमान कराया हैं, इसमें कुछ रहस्य होगा यों मनमें समझा था। भगवान् न हँसे और न विषाद किया इसलिए कहा है कि मौन करके बैठे थे, कारण कि यदि दुर्योधन को बुला कर उसका सम्मान आदि किया जाएगा तो पृथ्वी के भार का हरण नहीं होगा, यदि उसको मारा जाय तो पाण्डवों का अहङ्कार नष्ट नहीं होगा, अतः भगवान् सर्वसम होने से, शान्त रहे क्योंकि पृथ्वी का भार कैसे उतरेगा? जिसका उत्तर देते हैं कि जिस कारण से भगवान् ज्ञान दृष्टि से ज्ञान के साथ ही भ्रमण करते हैं इसलिए साध्य और साधन भाव को प्रत्यक्ष आप देख रहे हैं, कि किस साधन से कौनसा साध्य सिद्ध होगा, वैसे ही करते हैं। 'स्म' अक्षर से यह बताया है कि इसकी लोक और वेद में प्रसिद्धि है यही इसमें प्रमाण है ॥३६॥

आभास—उक्तमुपसंहरति **एतत्तेऽभिहितमिति**।

आभासार्थ—जो अब तक हुआ उसकी 'एतत्तेऽभिहितं' श्लोक में समाप्ति करते हैं।

श्लोक—**एतत्तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।**
दुर्योधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! महान् यज्ञ राजसूय में दुर्योधन का दुष्टपन जो आपने पूछा वह आपको कह दिया ॥४०॥

सुबोधिनी—**राजन्निति** स्नेहान्महत्सम्बोधनम् एतस्य चरित्रस्य निरोधोपयोगित्वं नास्तीति शङ्काव्युदासार्थं **त्वया पृष्टं** चेत् तदोक्तमित्याह **यत्पृष्टोऽहमिह त्वयेति**। त्वया मानभङ्गे हेतुः पृष्टः। तत्र **दुर्योधनस्य दौरात्म्यमेव** मानभङ्गहेतुरित्युत्तरं दौरात्म्यं च निरूपितमभिमानरूपम्। तच्च **राजसूये** समागतस्य कर्तुमनुचितं न हि धर्मार्थमागतोभिमानं करोति तत्रापि **महाक्रतौ** निरभिमानतयैव तत्र गन्तुमुचितमित्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हे राजन्! यह महान् सम्बोधन, श्री शुकदेवजी ने स्नेह के कारण कहा है, यह चरित्र निरोध प्रकरण में उपयोगी नहीं है, तो भी, आपने पूछा है इसलिए कहना पड़ा है। तुमने मानभंग का कारण पूछा वह हेतु दुर्योधन का अभिमान है। जिससे वह दुरात्मा बन गया है। वह अभिमान राजसूय यज्ञ में आने वाले को करना उचित नहीं है। धर्म के लिए आया हुआ अभिमान नहीं करता है उसमें भी यह महान् क्रतु है अतः इसमें तो दीन होकर जाना ही उचित है यों अर्थ है ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षड्विंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७२वें अध्याय (उत्तरार्ध के २६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का पंचम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

"पांडव सभा, दुर्योधन का क्रोध"

राग बिलावल:—

भक्त काज हरि जित कित सारे।
यज्ञ राजसू माहिं आपु हरि, सब के पाउँ पखारे॥
अष्ट नायिका द्रुपद सुता की, करै तहाँ सेवकाई।
दुर्जोधन यह रीति देखि कै, मन मैं रह्यौ खिस्याई॥
भक्त संग हरि लागे डोलत, भक्त बछल प्रभु भोरे।
सब विधि काज करत भक्तनि के, गनत नहीं हमको रे॥
जीतै जीतत भक्त आपनै, हारै हार बिचारत।
सूरदास प्रभु रीति सदा यह, प्रन जुग जुग प्रतिपारत॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७६वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७३वां अध्याय
उत्तरार्ध २७वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" ६

शाल्व के साथ यादवों का युद्ध

कारिका - **सात्विकानां निरोधस्तु षड्भिरेवं निरूपितः ।**
साधकांशः फलांशस्तु षड्भिरग्रे निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—सात्विकों के निरोध का साधनांश, छ अध्यायों से वर्णन किया है आगे छः अध्यायों से फलांश का निरूपण करते हैं ॥१॥

कारिका—**फलं तु त्रिविधं प्रोक्तं शत्रुनाशो यशस्तथा ।**
अलौकिकी तथा संपद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—फल तीन प्रकार का है १-शत्रु नाश २-यश ३-अलौकिकी सम्पत्ति ये दो दो अध्यायों से कहते हैं ॥२॥

कारिका - **बन्धूनां च तथांशस्य मित्रस्येसि पृथक् पृथक् ।**
बन्धूनां कृष्णसद्भावान्नान्यत्रेच्छा ।

कारिकार्थ - बान्धवों को उनके शत्रुओं का नाश और अंश (बलभद्र को) यश तथा मित्र को अलौकिक सम्पत्ति इस प्रकार पृथक् पृथक् फल दो दो अध्यायों में कहा है । बान्धवों का कृष्ण में सद्भाव है इसलिए दूसरी किसी प्रकार की इच्छा नहीं करते हैं ।

कारिका—**सहागतस्य त्वंशस्य कीर्त्तिरेवेप्सिता भुवि ।**
मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्यात् संपत्तिर्वाञ्छिता क्वचित ॥४॥

कारिकार्थ— साथ में आए हुए अंश को तो पृथ्वी पर यश फैले यही इच्छित है । मित्र के पास लक्ष्मी नहीं है वह कभी[1] उसकी इच्छा करता है ॥४॥

कारिका—**परोक्षे दारदृष्टो हि मित्रत्वमुपयाति हि ।**
अत्रादौ द्वारकास्थानां बन्धूनां च तथा क्वचित् ॥५॥
अनिवार्यं दुःखमुक्तं द्वितीयेन निवार्यते ।

कारिकार्थ—परोक्ष में दारदर्शक[2] मित्र होता है प्रथम द्वारका में रहे हुए बान्धवों को किसी समय किसी से मिट नहीं सके ऐसा दुःख हुआ, उस दुःख का दूसरे अध्याय में निवारण करते हैं ॥५ ½॥

कारिका—**सप्तविंशे तथाध्याये यादवानां महद्भयम् ॥६॥**
महादेवादिपुष्टेभ्यः शाल्वादिभ्यो निरूप्यते ।

कारिकार्थ—इस उत्तरार्ध के २७ वें अध्याय और प्रारम्भ से ७६ वें अध्याय में यादवों का महादेव आदि की आराधना से पुष्ट हुए शाल्व आदि से महान् भय उत्पन्न होता है ॥६ ½॥

कारिका—**अप्रत्याख्येयता सिध्द्यै प्रद्युम्नाय जयो महान् ॥७॥**
निरूपितः समस्तानां यतः स्यात्तु महद्भयम् ।

कारिकार्थ—प्रद्युम्न का कोई भी अपमान करने में समर्थ नहीं है इसकी सिद्धि करने के लिए इस अध्याय में प्रद्युम्न की महान् जय हुई, कही है जिससे सबको महान् भय हुआ यह निरूपण है ॥७ ½॥

१—स्त्री के कहने से २—स्त्री (लक्ष्मी) बतलाने वाले, अतः भगवान् ने सान्निध्य में प्रत्यक्ष कुछ नहीं दिया परोक्ष में ही लक्ष्मी आदि सम्पत्ति दी अतः भगवान् सुदामा के मित्र सिद्ध हुए ।

आभास—स्वतन्त्रतया फलप्रकरणमारभते अथेति ।

आभासार्थ—'अथान्यदपि' श्लोक से स्वतन्त्र रूप से फल प्रकरण शुकदेवजी प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक.—श्रीशुक उवाच—**अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं महत् ।**
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी ने कहा कि हे राजन्! अब और भी क्रीडार्थ नर शरीरधारी श्रीकृष्ण भगवान् का अद्भुत चरित्र जो शाल्व को मारने का कहता है वह सुनो ॥१॥

सुबोधिनी—तदैव निरुद्धानां भगवत्परता भवति । एतच्चरित्रमुत्तममिति श्रवणार्थं विशेषेण प्रेरयति **अन्यदपि कृष्णस्य शृण्विति** । यतः **अद्भुतं कर्मेति** । अस्माच्चरित्राद्भगवतोऽद्भुतानि कर्माणि बहूनिभवन्ति । इदं च चरित्रमद्भुतम् । तदेवाद्भुतं यदन्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवति । अत एव विश्वमेवाद्भूतं चरित्रमिति भगवच्छास्त्रं, धर्मार्थं प्रयत्नं कुर्वन् अधर्मं करोति, अर्थार्थमनर्थं, एवं पुरुषार्थान्तरेऽपि । किंबहुना सुखार्थं यतमानो दुःखं प्राप्नोति । एवं सर्वाश्रमादिधर्मेषु । भगवदनुसन्धानव्यतिरेकेषु बोद्धव्यम् । अत्रापि फलं भगवदनुभवः साधनत्वेन मन्यते । तथा सर्व एव भगवत्सम्बन्धी पदार्थः । इदं रहस्यं सर्वदैव भगवदीयैरनुसन्धेयम् । अतो यद्यपि सर्वमेवाद्भुतं तथापीदं **महत्** । तस्याद्भुतत्वमुपपादयति **क्रीडानरशरीरस्येति** । क्रीडार्थं नरशरीरमङ्गीकृतम् । यत्र क्रीडासंभावनापि नास्ति । नराणां सुखस्यैव नरकत्वात् तत्किमित्याकाङ्क्षायां निर्दिशति **यथासौभपतिर्हत** इति । मायिकं पुरं सौभशब्देनोच्यते तस्य पतिः शाल्वः स चेत् प्रयत्नं न कुर्यात्, जीवेद्वा कियत्कालं दुर्योधनादिवत् । अयं तु शीघ्रमेव हतः ॥१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार का भय उत्पन्न हो, तब ही निरुद्ध भक्तों की भगवान् में आसक्ति होती है, यह श्रीकृष्ण का चरित्र उत्तम है, इसलिए श्रवण करने के वास्ते विशेष प्रकार से प्रेरणा करते हैं कि दूसरा भी श्रीकृष्ण का चरित्र सुनो, क्योंकि यह चरित्र अद्भुत है । इस चरित्र से भगवान् के बहुत अद्भुत कर्म प्रकट होंगे । अद्भुत उसे कहते हैं, कि जो कर्म एक के लिए प्रारम्भ किया जाता है किन्तु उसका फल दूसरे को मिलता है, इसलिए वह विश्व ही भगवान् का अद्भुत चरित्र है यों भगवच्छास्त्र कहता है । धर्म के लिए प्रयत्न करते हुए अधर्म करता है । अर्थ के लिए अनर्थ करता है । इस प्रकार अन्य पुरुषार्थों में भी होता है, बहुत कहने से क्या ? सुख के लिए प्रयत्न करता हुआ दुःख पाता है, सर्व आश्रम आदि जो धर्म भगवान् के अनुसन्धान रहित हैं उनमें इसी तरह समझना चाहिए । यहाँ भी भगवान् के अनुभव रूप फल को साधनपन से जानते हैं वैसे ही सब भगवत्सम्बन्धी पदार्थ को साधन रूप मानते हैं, भगवद् भक्तों को यह रहस्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

यद्यपि भगवान् के सर्व चरित्र अद्भुत हैं, तो भी यह महान् अद्भुत हैं इसका अद्भुतपन सिद्ध करते हैं 'क्रीड़ा नरशरीरस्य' क्रीड़ा के लिए वहां मनुष्य शरीर धारण किया है जहाँ क्रीड़ा की सम्भावना नहीं है, क्योंकि, 'नराणां 'मनुष्य का 'कम्' सुख ही नरक है । अतः नरक में क्रीड़ा

अर्थात् आनन्द हो नहीं सकता है वैसा शरीर क्रीड़ा को लिये धारण करना महती अद्भुतता है वह कौनसा चरित्र है इस आकांक्षा के होने पर बताते हैं कि 'यथा सौभपतिर्हतः' जैसे सौभपति को मारा "सौभ" शब्द से मायिकपुर कहा है, जिसका पति शाल्व है वह यदि प्रयत्न न करता, तो दुर्योधन की तरह कितने ही समय तक जीता रहता किन्तु यह तो शीघ्र ही मारा गया ।

आभास—तस्य हननार्थमुपाख्यानमाह शिशुपालसख इति ।

आभासार्थ—'शिशुपाल सखः' श्लोक से शाल्व के मारने की कथा कहते हैं ।

श्लोक—**शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः ।**
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥२॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल का मित्र शाल्व रुक्मिणी के विवाह में आया था वहाँ यादवों से जो युद्ध हुआ उसमें शाल्व और जरासन्ध आदि सब हार गए ॥२॥

सुबोधिनी—शपथपूर्विका तेन सह मैत्री । शिशुपालसखित्वेनैव प्रसिद्धः **शाल्वः** । अत एव **रुक्मिण्युद्वाहे** आगते उपस्थिते **आगतो वा यदुभिर्निर्जितः** । आगतं वा **संख्यं** युद्धे तदा **यदुभिर्जितः** । न केवलमेकः किन्तु **जरासंधादयोऽपि तथा** मित्राणि निर्जिताश्च ॥२॥

व्याख्यार्थ—शाल्व की शिशुपाल के साथ शपथ (सौगन्ध) पूर्वक मित्रता थी । शाल्व शिशुपाल के मित्रपन से प्रसिद्ध था इस कारण से, रुक्मिणी का विवाह जब होने वाला था तब वहाँ आया था । उस समय हुए युद्ध में यादवों से हार गया न केवल शाल्व हारा, किन्तु जरासन्ध आदि उसके साथी भी यादवों से हार गए ॥२॥

आभास—एवं सर्वेष्वेव तथाभूतेषु सर्वहितान्वेषी यादवानां मारणं विचारितवान्—

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब, यादवों से हार गए, तब सर्व का हित चाहने वाले शाल्व ने यादवों को मारने का विचार किया जिसका वर्णन 'शाल्व प्रतिज्ञा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।**
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥३॥

श्लोकार्थ—सब राजाओं के सुनते हुए शाल्व ने प्रतिज्ञा की कि यह पृथ्वी बिन यादवोंवाली करूंगा अर्थात् यादव मात्र नाश करूंगा । मेरा पराक्रम देखिये ॥३॥

सुबोधिनी—ततस्तत्सिद्धयर्थं **शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत्** । क्लेशेष्वनिवृत्त्यर्थं **सर्वभूभुजां शृण्वतां मकरोत्** । **प्रतिज्ञामाह—अयादवीं क्ष्मां करिष्य** इति । यस्यां क्ष्मायां यादवा न तिष्ठन्ति इति सबीजनिर्हरणमर्थः । किं ब्रह्मशापेनैव नेत्याह **पौरुषं मम पश्यतेति** । **पश्यतेति** पौरुषं स्वकीयं साक्षात्पश्यतेति ॥३॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर यादवों के नाश की सिद्धि के लिए शाल्व ने प्रतिज्ञा की, वह प्रतिज्ञा, छिप कर, नहीं की किन्तु सब राजाओं के सुनते हुए की, जिससे यह सूचित किया है कि मेरे पर कितना भी दुःख आ पड़ेगा तो भी यह प्रतिज्ञा पूर्ण करूंगा। अब प्रतिज्ञा कहता है, कि यह पृथ्वी यादवों मात्र से शून्य करूंगा अर्थात् पृथ्वी पर यादवों का बीज भी नहीं छोड़ूंगा, जिससे फिर यह कुल बढ सके। क्या ऐसा ब्राह्मणों के शाप के भाँति करेगा ? तो कहता है कि नहीं, अपने पुरुषार्थ से करूंगा। आप वह मेरा पराक्रम प्रत्यक्ष देखिए।

आभास—ततोऽन्यानप्याह—

आभासार्थ—राजाओं को अपनी प्रतिज्ञा सुनाने के बाद अन्यों (दूसरों) को भी सुनाता है।

श्लोक—**इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम्।**
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे महाराज! वह मूर्ख इस तरह सबके सामने अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर केवल धूल की एक मुट्ठी फाकता हुआ महादेवजी की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनी—इत्युक्त्वा **मूढः** असाध्यसाधनार्थं प्रवृत्तः भूमिर्यादवोपजीविनी कथं यादवरहिता स्वरूपं लप्स्यत इति। तथापि मौढ्यात्प्रतिज्ञाय तत्राप्यसमर्थं देवं सेवितवान्। यतः स **पशूनामेव पतिः** तत्रापि **प्रभुः** नत्वन्तर्यामी। यदि पुरुषोत्तममन्तर्यामिणं वा भजेत् भक्तो ज्ञानी वा भवेत् तदा जगज्जननसामर्थ्यं विश्वोसंहारसामर्थ्यं वा भवेत्। विश्वामित्रस्येव तद्बहुकालसाध्यमिति मत्वा क्षिप्रप्रसादं स्वस्य पशुत्वात् **प्रभुमाराधयामास**। तत्राराधनप्रकारः **पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन्निति**। भगवद्वैमुख्यात्स्वहस्तेनैव स्वमुखे धूलिप्रक्षेपः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह मूर्ख, वह कार्य करने लगा जो होने वाला ही नहीं है, क्योंकि यह भूमि यादवों पर ही जीवित रह सकती है, यदि यादव ही न रहेंगे तो पृथ्वी अपना स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकेगी, तो भी, मूर्खता के कारण प्रतिज्ञा कर असमर्थ देव की आराधना करने लगा, कारण कि, वह देव असमर्थ इसलिए है, कि पशुओं का स्वामी है, जिसमें भी प्रभु हैं, न कि अन्तर्यामी हैं यदि यों है तो पुरुषोत्तम वा अन्तर्यामी की आराधना क्यों नहीं की ? जिसका उत्तर देते हैं कि यदि उनकी भक्ति करे तो भक्त वा ज्ञानी बन जावे, तो सृष्टि उत्पन्न करने और संहार करने की शक्ति विश्वामित्र की तरह आ जावे। किन्तु वह विशेष समय आराधना करने से सिद्ध होने वाली हैं, यों समझ शीघ्र प्रसन्न होने वाले पशुपति की आराधना करने लगा जिसका कारण यह है, कि स्वयं पशु है, इसलिए पशुपति की आराधना ही इसको इष्ट लगी। अब आराधना का प्रकार कहते हैं कि एक ही बार (हाथ) की मुट्ठी धुल की मुख में डाल कर आराधना करने लगा शाल्व भगवान् से विमुख था इसलिए उसकी विपरीत ही बुद्धि थी जिससे अपने मुँह में अपने हाथ से धूलि डालने लगा ॥४॥

आभास—ततो यज्ज्ञातं तदाह **संवत्सरान्त** इति।

आभासार्थ—बाद में जो कुछ हुआ वह 'संवत्सरान्ते' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः।**
वरेण छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—शीघ्र प्रसन्न होने वाले भगवान् पार्वती पति एक वर्ष के अन्त होने पर शरण आए हुए शाल्व को वरदान से सन्तुष्ट किया अर्थात् कहा कि वर मांग ॥५॥

सुबोधिनी—महादेवः कालप्रेष्यः संवत्सरा-कालः, शाल्वो दुर्वृत्तः भगवद्विरोधार्थं यतते अस्मांश्च प्रार्थयते। तत्राद्भुतकर्मत्वाद्भगवदभिप्रायो न ज्ञायते। किमस्मा एष वरो देयो नवेति तदर्थं संवत्सरप्रतीक्षा कृता। यदि संवत्सरेणायं मार्यते तदा स्वामिहितकर्त्रा सवत्सरेणैव कार्यं सिद्धम्। अथ यदि क्लेशमेव दत्वा जीवयिष्यति तदा मयापि क्लेशदानार्थमेव वरो देय इति विचार्य संवत्सरं तूष्णीं स्थितः। नन्वग्रेऽपि कथं न स्थितः तत्राह—**आशुतोष** इति। स परमदयालुः अल्पमप्यन्यस्य क्लेशं न सहते, तथाप्यस्थाने यत्नं करोतीति तावद्विलम्बं कृतवान्। ननु तथापि स्वामीद्रोही उपेक्षणीय एव, किमिति वरो दत्त इत्याकाङ्क्षायामाह **उमापतिरिति**। उमापि तपःकुर्वाणा मया उपेक्षिता, सा पश्चात्तपसा पुष्टा सती गले पतिता, तथायमपि भविष्यतीति विचार्य ततो विघ्नार्थमेव **वरेण छन्दयामास**। वरं ब्रूहीत्युक्तवान्। ननु तस्य को धर्मः येन वरार्थं छन्दयामास। तपस्तु नास्त्येव भगवद्वैमुख्यात्। नहि नारकिणो रोगिणो वा तपः कुर्वन्ति। किंतु कर्मानुभव एव तेषां तादृशः तस्मादुपेक्षणीय एवेत्याशङ्क्यायामाह—**शरणमागतमिति**। शरण्योपेक्षादोषभियेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—महादेव ने एक वर्ष बाद कहा, कि वर मांग इतना समय महादेव ने विलम्ब क्यों किया, जिसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं, कि महादेव काल के सेवक हैं। काल संवत्सर रूप है, शाल्व दुष्ट है भगवान् के साथ तो विरोध करता है और हमको प्रार्थना करता है इस विषय में भगवान् का क्या अभिप्राय है, वर देना चाहिए वा नहीं, इसका पता नहीं पड़ता है, क्योंकि भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, इसलिए ही महादेव एक वर्ष शान्त रहे। जो संवत्सर ही इस शाल्व को मार दे तो स्वामी हित-कर्ता संवत्सर से ही कार्य सिद्ध हो जाय। जो संवत्सर क्लेश भुगताने के लिए ही इसको जीवित रखेगा, तो मैं भी क्लेश देने के लिए ही वर दूंगा, यों विचार कर एक वर्ष पर्यन्त मौन धारण कर बैठे।

वर्ष के बाद भी क्यों न मौन धारण की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आशुतोषः,' यों तो आप शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं। किसी का स्वल्प भी दुःख सहन नहीं कर सकते हैं परम दयालु हैं, तो भी, यह शाल्व अयोग्य स्थान पर प्रयत्न करता है इसलिए ही इतना विलम्ब किया है तो भी यह स्वामि का द्रोह कर रहा है इसलिए इसकी अपेक्षा ही करनी चाहिए थी, क्यों वर दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'उमापति' मैं उमा का पति हूं उसने तपस्या की थी तो भी मैंने उसकी उपेक्षा करदी किन्तु वह (उमा) तपस्या से पुष्ट होकर मेरे गले पड़ी, वैसे ही यह भी होगा, इस प्रकार विचार कर विघ्न के लिए ही उसको कहा कि वर मांग, इसमें ऐसा कौनसा गुण था। अथवा इसने कौनसा ऐसा धर्म किया था जिससे इसको वर से संतुष्ट किया ? भगवान् से विमुख

होने के कारण तपस्या तो है ही नहीं जो नारकी व रोगी होते हैं वे तपस्या तो करते ही नहीं किन्तु उनको वैसा ही कर्म का अनुभव होता है। (होना चाहिए) इस कारण से यह उपेक्षा करने के ही योग्य होना चाहिये इसका उत्तर देते हैं कि 'शरणमागतं' तपस्या आदि कोई गुण इसमें नहीं हैं किन्तु शरण आया है, शरण आए की उपेक्षा करना दोष है। इस दोष के भय से कहा कि वर मांग ।।५।।

आभास—ततस्तस्यान्तर्यामिणैव बुद्धिनाशो जात इति यत्किञ्चित्प्रार्थयते **देवासुरेति**

आभासार्थ—पश्चात् उसके अन्तर्यामी ने ही उसकी बुद्धि नाश की जिससे उसने जो मांगा वह 'देवासुरमनुष्याणां' श्लोक में कहा है।

श्लोक—**देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।**
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ।।६।।

श्लोकार्थ—उसने वर मांगा कि देवता दैत्य मनुष्य गन्धर्व उरग व राक्षस ये जिसको तोड़ न सके और स्वेच्छा से चलने वाला और यादवों को डराने वाला विमान मुझे मिले ।।६।।

सुबोधिनी— **देवासुरमनुष्याश्त्रिगुणप्रधानाः गन्धर्वोरगराजसाः** मिश्रगुणप्रधानाः। एवं षड्भिः सर्व एव सगुणाः परिगृहीताः। तेषां सर्वेषामेवा-**भेद्यं** अस्मदधीनं च **कामगमन्यथा** समुद्रवदस्मत्पुरुषार्थाय न स्यात्। किञ्च। यदर्थस्तु प्रयासः तदर्थं किञ्चिद्याचनीयमिति तस्य **यान**स्यापरं धर्मं प्रार्थयते—**वृष्णिभीषण**मिति। वृष्णीनां भयजनकम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—देव, असुर और मनुष्य इनमें तीन गुण प्रधान हैं और गन्धर्व उरग तथा राक्षस इनमें मिश्र गुण प्रधान हैं इस प्रकार मांगने से सब सगुण जीव ही कहे इन सबों से टूटे नहीं और मेरी इच्छानुसार चलने वाला और मेरे आधीन हो यदि वैसा नहीं होगा तो समुद्र की भांति मेरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा अतः वैसा विमान मांगा जो मेरे सब तरह आधीन हो और उनसे टूटे नहीं अनन्तर और मांगता है कि जिनके लिए इतना कष्ट किया उनके वास्ते कुछ मांगना चाहिए इसलिए इस विमान में अन्य भी गुण होना चाहिए वह गुण यह होवे कि इससे यादवों को भय उत्पन्न हो अर्थात् इसको देखकर वे भयभीत हो जावे ।।६।।

आभास—महादेवोऽपि भगवति न किञ्चिद्बाधकमिति तथेत्यङ्गीकृतवान् वरमात्र-सिद्धो नित्यो भविष्यतीति अनित्यत्वे कृतकत्वं प्रयोजकमिति मयं प्रत्याज्ञां दत्तवानित्याह **तथेति** ।

आभासार्थ—महादेव ने समझ लिया, कि इसने जो कुछ मांगा है उसमें से कोई भगवान् को बाध करने वाला नहीं है, इसलिए उसका मांगा हुआ वर देना स्वीकार कर लिया केवल वरदान से बना हुआ तो नित्य हो जाएगा अतः यह विमान बना हुआ होना चाहिए क्योंकि, जो बनेगा वह

अनित्य होगा इसलिए महादेव ने मय को विमान बनाने की आज्ञा दी यह 'तथेति' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः ।**
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम् ।।७।।

श्लोकार्थ— 'तथास्तु' यों हो, ऐसा कह कर महादेव ने शत्रुओं के पुरों को जीतने वाले मय दैत्य को आज्ञा दी, आज्ञानुसार मय ने लोहे का सौभ नाम पुर बनाकर शाल्व को दिया ।।७।।

सुबोधिनी—**गिरिशादिष्ट** इति। **परपुरंजय** इति। शत्रूणां पुरजयशीलः। स हि जानाति पुरं जेयमजेयं च। अतो यथा अजेयं तथा करिष्यतीत्यर्थः। अतस्तादृशं **पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्।** तस्य नामस्वरूपे आह **सौभमयस्मय**मिति। सुष्ठु भा येषां ते सुभाः। तेषां सम्बन्धि पुरं सौभं उत्कृष्टलोहनिर्मितं दृढं भवति ।।७।।

व्याख्यार्थ—शिव की आज्ञा पाकर मय ने पुर (विमान) बनाके शाल्व को दिया। मय दैत्य यह जानता है, कि यह विमान शत्रुओं के पुर को जीत सकेगा अथवा यह नहीं जीत सकेगा, इससे मय ऐसा बनाएगा जो जीता न जाय अतः वैसा अजय पुर बनाकर शाल्व को दिया कैसा और किससे बनाया, इससे नाम स्वरूप का वर्णन करते हैं कि 'सौभमयस्मयम्' जिसका प्रकाश उत्तम है वह सुभाः उनका सम्बन्धी पुर (विमान) 'सौभ' कहलाता है उत्तम लोहे से निर्मित मजबूत था ।।७।।

आभास—ततः कृतार्थो भूत्वा युद्धार्थं द्वारकां समागत इत्याह **स लब्ध्वेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार कृतार्थ होके अनन्तर शाल्व युद्ध के लिए द्वारका आया जिसका वर्णन 'स लब्ध्वा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधामदुरासदम् ।**
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ।।८।।

श्लोकार्थ—अन्धकार का धाम, दुष्प्राप्य, इच्छापूर्वक चलनेवाला विमान पाकर, वह शाल्व यादव कृत वैरका स्मरण करता हुआ द्वारका आया।

सुबोधिनी—**कामगं** इच्छामात्रेणैवेष्टदेशप्रापकम्। **तमोधाम** अन्धकारप्रचुरं तस्मिन्नन्धकार-स्तिष्ठतीति स न दृश्यते। **दुरालदं** च केनापि प्राप्तुमशक्यम्। एवं प्राप्तदेववरस्य भगवद्विरोध एव फलमिति। **द्वारवतीमेव ययौ वृष्णिकृतं वैरं** रुक्मिणीहरणात्मकं शिशुपालवधात्मकं च पूर्वं दृष्टं श्रुतं च **स्मरन्** ।।८।।

व्याख्यार्थ—'कामगं' इच्छा करते ही इच्छित देश में पहुँचाने वाला अन्धकार का धाम जिससे वह देखने में न आने वाला कोई भी उसको प्राप्त न सके इस प्रकार के वर प्राप्त करने का

फल भगवान् से विरोध ही है वैसा विमान प्राप्त कर द्वारका आया, मार्ग में यादव कृत वैर रुक्मिणी का हरण एवम् शिशुपाल वध आदि स्मरण करता हुआ द्वारका पहुंचा ॥८॥

आभास—ततो वैरेण यत्कृतवांस्तदाह **निरुध्येति** ।

आभासार्थ—अनन्तर वैर से जो कुछ किया वह 'निरुध्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।**
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे भरत श्रेष्ठ ! शाल्व बड़ी सेना ले चारों तरफ से पुरी को घेर बाग और बगीचे तोड़ने लगा ॥९॥

सुबोधिनी—सौभमात्रं तु तस्यवरप्राप्तं सेना तु स्वाभाविक्यधिका अतस्तदा या **पुरीं निरुध्य** | **उद्यानोपवनानि सर्वशो बभञ्ज** ॥९॥

व्याख्यार्थ—उसको वर से तो केवल सौभ विमान प्राप्त हुआ था, सेना तो उसके पास सहज थी और वह भी अधिक थी, अतः तब जिस सेना ने पुरी को घेर कर बाग बगीचे सब तोड़ डाले ॥९॥

आभास—ततो दुर्गमध्येऽप्युपद्रवं कृतवानित्याह **सगोपुराणि द्वाराणीति** ।

आभासार्थ—पश्चात् दुर्ग के बीच में भी उपद्रव किए जिसका वर्णन 'सगोपुराणि द्वाराणि' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः ।**
विहारान्सविमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—गोपुर, दरवाजे, महल, अटारियाँ व उनकी भीतें तथा क्रीड़ा स्थल आदि को तोड़ने के लिए और मनुष्यों को दुःख देने के लिए शस्त्रों की वर्षा बरसाने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—**गोपुरद्वार**सहितानि **द्वाराण्या**-लक्ष्य **शस्त्रवृष्टयो निपेतुरिति** संबन्धः । वभञ्जेति केचित् । प्राकारा **अट्टालास्तोलिकाश्च** प्राकारस्था एवैताः **तोलिका**श्चिच्छिद्रपङ्क्तय यत्र स्थितैः पाषाणाः क्षिप्यन्ते । प्रतोलिका वा शोभास्था-नानि । **विहारान्** विश्रामस्थानानि तानि **विमा-नाग्र्य**सहितानि तेषां भञ्जनार्थं तत्र स्थितपुरुषाणां पीडार्थं वा **शस्त्रवृष्टयो निपेतुः** । साधारणमेत-द्युद्धम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—(सेना के लोग) बाहर के बड़े द्वार सहित द्वारों को लक्ष्य कर शस्त्र-वृष्टि करने

लगे, कितने कहते हैं तोड़ने लगे, महल अटारियाँ और महलों में जो भीतों में छिद्र आदि थे उन स्थानों पर जहाँ खड़े थे वहाँ से ही पत्थर फेंकने लगे प्रतोलिका पद का भावार्थ है शोभा के स्थान जहाँ जाली की तरह तरह के छिद्र बने (निकले) हों और विश्राम के स्थान इन सबों को तोड़ने के लिए वहाँ से पाषाण फेंकते थे तथा स्थित पुरुषों को पीड़ा देने के लिए शस्त्रों की वर्षा करने लगे यह तो साधारण युद्ध है ॥१०॥

आभास—दैत्ययुद्धमाह **शिला द्रुमा इति** ।

आभासार्थ—'शिला द्रुमा' श्लोक से दैत्य युद्ध का वर्णन करते है ।

श्लोक—**शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पाः प्रासारशर्कराः ।**
प्रचण्डश्चक्रवातोभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥११॥

श्लोकार्थ—शिला, वृक्ष, बिजली, सर्प और कांकड़ी आदि बरसने लगे तेज बोंडर उठने लगे रज से दिशायें छा गई ॥११॥

सुबोधिनी—पाषाणा वृक्षाश्च बहिरुत्पाटिताः अन्तः पक्षिप्ताः **अशनयो**ऽपि तस्य वरप्राप्त्या आसुरमायया अशनयोऽपि तदधीनाः तथा **सर्पाश्च प्रासारशर्कराः** प्रकृस्य आसाररूपाः **शर्कराः** सूक्ष्मपाषाणवृष्टि कृतवन्तः, **शिला द्रुमास्तामसाः अशनयः** सात्विकाः **सर्पप्रासारसर्करा** राजसाः । एवं त्रैविध्येन सर्व एव प्रकार उक्तः । ततः कृत्रिममाह-**प्रचण्डश्चक्रवातोभूदिति** । भ्रमं जनयतीति भिन्नतया च निरूपितम् । चक्रवातो वात्या **रजसा** रेणुसमूहेन **दिशः आच्छादिताः** । एवं प्राकारतन्मध्यस्थितानां क्रियाविघातकं ज्ञानविघातकं च कृतवन्त इयर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—नगर के बाहर के बाग से पाषाण और वृक्ष उखाड़ कर अन्दर नगर के भीतर फेंकने थे बिजलियाँ भी अन्दर फेंकते थे वर प्राप्ति से एवम् असुर माया से बिजलियाँ भी उसके आधीन थीं, वैसे सर्प और छोटी काँकड़ी तथा छोटे २ पत्थरों की वर्षा करने लगे । पाषाण और वृक्ष तामस हैं बिजली सात्विक है सर्प और कांकड़ियाँ राजस हैं यों तीन प्रकार कहने से सब प्रकार कह दिये हैं, पीछे कृत्रिम कहते हैं कि 'प्रचण्डश्चक्रबातोऽभूत' यह भ्रम पैदा करने वाला है अतः पृथक् कहा है, धूलि मिश्रित वायु से दिशायें छा गईं इस प्रकार महलों में और उनके मध्य भागों में रहने वालों के क्रिया के नाश का तथा ज्ञान के नाश का कार्य किया ॥११॥

आभास— तेषामुपद्रवेण जातं फलमाह **इत्यर्द्यमानेति** ।

आभासार्थ—उनके उपद्रव से जो फल निकला वह 'इत्यर्द्यमाना' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।**
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथामही ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस प्रकार अधम सौभ से बहुत पीड़ित श्रीकृष्ण की

पुरी जैसे त्रिपुरासुर से पृथ्वी दुःखी हुई वैसे ही दुःखी यह पुरी भी दुःखी हुई कहीं भी सुख न रहा।

सुबोधिनी—सौभेनाधमेन पीड्यमाना अतदर्हा यतः **कृष्णनगरी** अतिसुकुमारी **शं नाभ्यपद्यत** निरोधत्वात् न भक्तिमार्गविरुद्धं वर्णनम्। **राजन्निति** विश्वासार्थम्। पीडाया इयत्तां वक्तुं दृष्टान्तमाह **त्रिपुरेण यथा** महीति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की बहुत कोमल नगरी पीड़ा के योग्य नहीं थी। तो भी अधम सौभ ने उसको पीड़ित किया, जिससे उसको सुख नहीं हुआ। निरोध होने से यह वर्णन भक्ति मार्ग के विरुद्ध नहीं है। हे राजन्! यह सम्बोधन विश्वास के लिए है, कितनी, कैसी पीड़ा हुई उसकी सीमा का दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं कि 'त्रिपुरेण यथा मही' त्रिपुरासुर ने जैसे पृथ्वी को दुःखी किया वैसे ही शाल्व ने श्रीकृष्ण की पुरी को पीड़ित किया ॥१२॥

आभास—एवं महादेवप्रीत्यर्थं तस्योत्कर्षमुक्त्वा सर्वथा भग्नोपाय एवं भगवत्परो भवतीति उपायान्तरं दूरीकर्तुं **प्रद्युम्नादीनां** रक्षार्थं युद्धमाह **प्रद्युम्नेति**।

आभासार्थ—महादेव के प्रसन्नतार्थ उसका उत्कर्ष कह कर अब दिखाते हैं जिसके सर्व उपाय निकम्मे हो जाते हैं वह ही भगवत्परायण होता है, इसलिए दूसरे उपाय को हटाने के लिए 'प्रद्युम्नो' श्लोक में प्रद्युम्नादिकों ने रक्षा करने के लिए युद्ध किया जिसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—**प्रद्युम्नो भगवान्तवीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः।**
मा भैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो रथारूढो महायशाः ॥१३॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न अपनी प्रजा को पीड़ित देख कर बोले कि तुम मत डरो, बाद में महान् यशस्वी वीर रथ में बैठ निकट आ गये ॥१३॥

सुबोधिनी—तस्य प्रथमतो गमने हेतुर्भगवानिति। भगवत्त्वात्स्वरूपज्ञानमुपायज्ञानं च **निजाः प्रजा** इति रक्षाभिनिवेशार्थमुक्तम्। आदौ मनसा रक्षां विचारितवान्। ततो वचनेनाप्याह **मा भैष्टेत्यभयात्** मुखतो मा भैष्टेत्युक्त्वा पश्चाद्रथेन युद्धदेश**मभ्ययात्** इत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले युद्ध में प्रद्युम्न के जाने का कारण यह है, कि प्रद्युम्न भगवान् है अतः उनको सौभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान था, कि यह कौन है किस तरह इसका नाश होगा? इन्होंने देखा कि जो प्रजा पीड़ित हो रही है वह अपनी है इसको पीड़ा से रक्षा करनी चाहिए ऐसी पहले मनमें इच्छा हुई अनन्तर उसका वाणी से प्रकाश करते हुए कहा कि डरो मत, बाद में रथ में बैठ कर युद्ध के स्थान पर पहुँच गए ॥१३॥

श्लोक—**सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः।**
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ॥१४॥

श्लोकार्थ—सात्यकि और चारुदेष्ण तथा साम्ब और भ्राताओं के साथ अक्रूर हार्दिक्य और भानुविन्द, गद, शुक और सारण ॥१४॥

सुबोधिनी—तथा **सात्यकिरपि चारुदेष्णः** प्रद्युम्नभ्राता, **अक्रूरो** भ्रातृसहितः **हार्दिक्यादयो** यादवाः **गदादयो** भ्रातरः। **शुकसारणौ** दूतौ परं भ्रातरौ ॥१४॥

व्याख्यार्थ—सात्यकि, प्रद्युम्न का भ्राता चारुदेष्ण, भ्राताओं के साथ अक्रूर, हार्दिक्य आदि यादव गद आदि भाई शुक और सारण दूत थे परन्तु श्रीकृष्ण के भाई थे ॥१४॥

श्लोक—**अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः।**
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—ऊपर १४वें श्लोक में कहे हुए योद्धों के सिवाय जो और थे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि दूसरे, बड़े धनुषों को धारण करने वाले, यादव भी और रथों की सेना की रक्षा करने वालों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ, हस्ती, घोड़े और सैनिकों से रक्षित हो बाहर निकले ॥१५॥

सुबोधिनी—अपरे च यादवाः **महेष्वासाः** धनुर्धरा **रथयूथपानामपि यूथपाः दंशिताः** रथादिभिर्वेष्टिता **निर्ययुः**। फलप्रकरणत्वाल्लौकिकी भाषा फलं सर्वत्रानुभवसिद्धत्वाल्लौकिकमेव। अतः स्वतो महान्तः साधनसहिता युद्धार्थं निर्गता इति स्वतः प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिः तद्भगवान् दूरीकरिष्यति। लौकिकी भाषेयमिति न पूर्वविरोधः। बलभद्रो विद्यमानोऽपि महादेवप्रेरितोऽयमित्युपेक्षित इति केचित् क्वचिदन्यत्र गत इति च ॥१५॥

व्याख्यार्थ—और दूसरे धनुर्धारी यादव, रथों की सेना के रक्षकों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ आदि से घिरे हुए बाहर निकले, फल प्रकरण होने से लौकिकी भाषा है, फल सर्वत्र अनुभव से सिद्ध होने के कारण लौकिक ही है इसलिए आप ही साधन लेकर युद्ध करने के वास्ते बाहर निकले यों स्वतः ही प्रतिकार के लिए प्रवृत्ति हुई उसको भगवान् रोकेंगे, यह लौकिकी भाषा होने से जो प्रथम कहे हैं उनसे विरोध नहीं है। बलदेवजी द्वारका में विराजते थे तो भी उनने इस सौभ की उपेक्षा की क्योंकि इसको महादेव से प्रेरणा मिली है। यों समझ उनने इसकी उपेक्षा (परवाह) नही की, कितने ही यों कहते हैं, कि वे कहीं अन्यत्र गये थे ॥१५॥

आभास—तत उभयोः शूरत्वख्यापनाय युद्धं वर्णयति **ततः प्रववृते युद्धमिति**।

आभासार्थ—पश्चात् दोनों की वीरता प्रसिद्ध करने के लिए युद्ध का वर्णन 'ततः प्रववृते' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह।**
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—बाद में जैसे असुरों का देवों से रोमांच करनेवाला महान् संग्राम हुआ वैसे ही शाल्वों का यादवों के साथ घोर युद्ध हुआ ।।१६।।

सुबोधिनी—**शाल्वानामिति** बहुवचनं प्राणभृन्न्यायेन प्रधानव्यपदेशन्यायेन वा । उभयेषां युद्धे दाढर्च्यं माह **यथासुराणां विबुधैरिति** । असुराणां यथा देवैस्तुमुलमधिकं लोमहर्षणं प्रचण्डप्रहारयूक्तम् । यस्मिन् श्रुते रोमाञ्चो भवति ।।१६।।

व्याख्यार्थ—'शाल्वानां' शाल्व एक है फिर बहुवचन क्यों कहा, जिसका भावार्थ समझाते हैं कि दो न्याय होते हैं, एक प्राणभृत न्याय दूसरा प्रधान व्यपदेश न्याय । बल के पोषक प्राण बहुवचन में दिया जाता है, इसी मुख्य पुरुष का नाम भी आदरार्थ बहुवचन में दिया जाता है अतः शाल्व को बहुवचन में कहा है, दोनों तरफवालों की युद्ध में दृढता कहते हैं, जैसे असुरों का देवों से महान् संग्राम हुआ जिससे रोमांच खड़े हो जाते थे वैसे ही इनकी भी भारी लड़ाई होने लगी ।।१६।।

आभास—ततो मायया तैर्या बिभीषिका प्रदर्शिता तां प्रद्युम्नो निवारितवानित्याह **ताश्च सौभपतेर्माया** इति ।

आभासार्थ—उन्होंने माया से जो भय दिखाया उसको प्रद्युम्न ने निरारण कर दिया जिसका वर्णन 'ताश्च सौभपते' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— **ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।**
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ।।१७।।

श्लोकार्थ—जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को क्षण मात्र में नाश कर देता है वैसे ही रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न ने दिव्य अस्त्रों से क्षण में सौभपति की माया को नाश किया ।।१७।।

सुबोधिनी—दिव्यास्त्रैराग्नेयादिभिः नारायणास्त्रेण पाशुपतेन वा मूले छेदमकृत्वा अर्धप्राकृतबुध्द्या युद्धं करोतीति अपरितोषेणाऽऽह **रुक्मिणीसुत** इति । यदर्थं कृतवान् तज्जातमित्याह **क्षणेन नाशयामासेति । नैशं तमो** रात्रेः संबन्ध्यन्धकारः सूर्यस्य सहजनिराकार्यः । तेन निरायासेन निराकरणमुक्तम् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—दिव्य अस्त्र, आग्नेय, नारायण और पाशुपत आदि हैं इनमें से किसी से भी मूल में छेदन करने से पहले लौकिक युद्ध करते थे, किन्तु, इससे सन्तोष न हुआ क्योंकि 'रुक्मिणी-सुत' रूकमणी के पुत्र हैं वे इतना विलम्ब सह न सके अतः जैसे सूर्य क्षण में रात्रि के अन्धकार को मिटा देता है वैसे ही इसने भी क्षण में सौभपति की माया को बिना परिश्रम के नाश कर दिया ।।१७।।

आभास—ततो विशेषयुद्धमाह **विव्याध पञ्चविंशत्येति** ।

आभासार्थ—पश्चात् विशेष युद्ध का 'विव्याध' श्लोक से वर्णन करते हैं:-

श्लोक—**विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।**
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ।।१८।।

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापति को, सुवर्ण के पंख वाले, लोहे के फल वाले और छोटी छोटी सन्धि वाले पच्चीस बाणों से वेधा ।।१८।।

सुबोधिनी— पञ्चविंशतितत्त्वात्मकाः सर्वे सर्वभावेन विद्धा इति ज्ञापयितुं **शाल्वस्य ध्वजिनीपालं** सेनापतिं **शरैर्विव्याध । सुवर्णपुङ्खैरिति** प्रत्यञ्चातः शीघ्रनिर्गमनार्थं । **अयोमुखैरिति** उत्तमवेधार्थं । मध्ये शराः **सन्नतपर्वाणः** ।।१८।।

व्याख्यार्थ—शाल्व के सेनापति को पच्चीस बाणों से वेधा, पच्चीस बाणों से वेधने का भावार्थ यह था, कि पच्चीस तत्वात्मक वे सब शाल्व थे उन सबको सर्वभाव से वेधना था, जिन बाणों से वेधा उन बाणों के सोने के पंख थे, क्योंकि सोने के पंखों के कारण वे बाण प्रत्यञ्चा से शीघ्र निकल आते थे, लोहे के फल वाले होने से उत्तम प्रकार से शत्रु को बींध सकते थे, बाण बीच में छोटी २ गाँठ वाले थे ।।१८।।

श्लोक—**शतेनाताडयच्छाल्मेकैकेनास्य सैनिकान् ।**
दशभिर्दशभिर्नेतॄन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ।।१९।।

श्लोकार्थ—शाल्व पर एक सौ बाण, उसके प्रत्येक सैनिक को एक एक बाण, सारथियों को दश दश बाण, वाहनों को तीन तीन बाण लगाए ।।१९।।

सुबोधिनी—ततः **शतेन शाल्वमताडयत् । एकैकेन चास्य सैनिकान् दशभिः सारथीन्** अश्वां- **स्त्रिभिस्त्रिभिः** ।।१९।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् एक सौ बाणों से शाल्व पर प्रहार किया, एक एक बाण से प्रत्येक सैनिक पर दश दश बाणों से, सारथियों पर तीन तीन बाणों से घोड़ों पर प्रहार किया ।।१९।।

आभास—एवमेकेन सर्वेषां प्रहारः अत्याश्चर्यत्वात् शत्रुभिरपि स्तुत इत्याह **तत्तस्येति** ।

आभासार्थ:—इस प्रकार एक ने सर्व पर प्रहार किया यह अति आश्चर्य कारक होने से शत्रुओं ने भी इसकी स्तुति की जिसका वर्णन 'तत्तस्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक **तत्तस्य चाद्भुतं कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।**
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ।।२०।।

श्लोकार्थ—महात्मा प्रद्युम्न का यह अद्भुत कर्म देख कर अपनी और शत्रु की सेना के सब सैनिक उनकी स्तुति (प्रशंसा) करने लगे ।

सुबोधिनी—**अद्भुत**माश्चर्यकरं मन्त्रसामर्थ्यात्पित्रसामर्थ्याद्वा एतदिति पक्षं वारयति **महात्मन** इति । स्वयमेव महानुभावः । अत एवाश्चर्यम् । **स्वस्य परस्य** शत्रोश्च **सैनिकाः** ।।२०।।

व्याख्यार्थ:—प्रद्युम्न का यह कर्म अद्भुत, अर्थात् आश्चर्य कारक था । प्रद्युम्न ने यह आश्चर्य जैसा कार्य मंत्र शक्ति से अथवा पितृ शक्ति से किया होगा जिसके लिये कहते हैं कि वे स्वयं महान् आत्मा हैं जिससे अपनी ही शक्ति से किया है, इसलिए ही आश्चर्य है । अतः ऐसा आश्चर्य कारक चरित्र देख कर अपनी सेना और शत्रु की सेना के सैनिकों ने स्तुति (प्रशंसा) की ।।२०।।

आभास—ततः शाल्वः स्वयं युद्धं करिष्यतीति वक्तुं तस्य स्वरूपमाह **बहुरूपैकरूपमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व स्वयं युद्ध करेगा यों कहने के लिये उसके स्वरूप का वर्णन 'बहुरूपैक' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।**
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत ।।२१।।

श्लोकार्थ—मय का बनाया हुआ यह मायामय विमान कभी तो अनेक रूप देखने में आता कभी एक रूप देखने में आता है तो कभी लोप हो जाता है इस कारण से शत्रुओं से भी अतर्क्य हुआ है ।।२१।।

सुबोधिनी—कदाचिद्**बहुरूपं** अनेकरूपं दृश्यते कदाचि**देकरूपं** कदाचिद् **दृश्यते** कदाचिन्न **दृश्यते** इति प्रमाणप्रमेययोरपि वैलक्षण्यमुक्तम् । तत्र हेतुः **मायामय**मिति । तर्हि दिव्यास्त्रेण नाशं यास्यतीत्यत आह **मयकृत**मिति । तर्ह्यन्यैस्तादृशैः सूक्ष्मेक्षिकया तन्नाशोपायो ज्ञातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **परैरन्यैर्दुर्विभाव्यं** तर्कितुमशक्य**मभू**दित्यर्थः ।।२१।।

व्याख्यार्थ—वह विमान कभी अनेक रूप दृष्टि गोचर होता था, कभी एक रूप हो जाता कभी लुप्त हो जाता, इससे प्रमाण और प्रमेय की विलक्षतरणा बताई है, इसमें कारण कि वह विमान माया मय है तब तो दिव्यास्त्र से नाश होगा इसलिए कहा है कि मय का बनाया हुआ है ।

तब इनके समान दूसरे इसके नाश का उपाय सूक्ष्म दृष्टि से जाना होगा इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे तो इसका विचार भी नहीं कर सकते हैं ।।२१।।

आभास—तस्य देशोऽपि दुर्लक्ष्य इत्याह **क्वचिद्भूमाविति** ।

आभासार्थ—उसका स्थान भी जानने में नहीं आता था । यह 'क्वचिद्भूमौ' श्लोक में बताते हैं

श्लोक—**क्वचिद्भूमौ क्वचिद्व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।**
अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—वह विमान कभी तो पृथ्वी पर, कभी आकाश में, कभी पर्वत के शिखर पर और कभी जल में अलात चक्र के समान भ्रमण कर रहा था, जिससे उसकी व्यवस्था का ठिकाना लगाना बहुत कठिन हो गया ।।२२।।

सुबोधिनी—लक्ष्यं दृष्ट्वा पश्चाच्छस्त्रप्रयोगः । तत् स्थिरे चरे च भवति । चरे च लक्ष्यभूमिः ज्ञातुं शक्या भवति । अस्य तु सर्वमेवाशक्यमिति क्षणमात्रव्यवधानेऽपि विरुद्धदेशान् वर्णयति आकाशभूम्योरतिव्यवधानम् । एवं गिरिमस्तकजलयोरपि **अलातचक्र-वद्भ्राम्यच्च** भवति तेनाविद्यमानस्थलेऽपि दृश्यत इति, तन्निराकरणार्थं न शस्त्रप्रयोगः कर्तुं शक्यः । केनचिन्मन्त्रादिना तथात्वे तत्प्रतिकारेण प्रतिकर्तव्य इति शङ्कां वारयति **तत्सौभ स्वभावत एव दुरवस्थितमिति** ।।२२।।

व्याख्यार्थ—निशान देख कर बाद में शस्त्र का प्रयोग किया जाता है, वह निशान स्थिर चाहे चर हो, चर में निशान की भूमि जानी जा सकती है । इसका तो सब अशक्य है क्योंकि क्षण मात्र में विरुद्ध देशों में पहुंच जाता है जैसे आकाश और भूमि में बहुत अन्तराय है । इसी तरह पर्वत के शिखर और जल के बीच में विशेष अन्तराय है फिर वह अलात चक्र की भाँति फिरता है जिससे जहाँ नहीं है वहाँ भी देखने में आता है वैसे के निराकरणार्थ शस्त्र का प्रयोग करना भी अशक्य है, यदि यों है तो, किसी मंत्र आदि से इसका विनाश हो सकता हो तो उसके प्रतिकार से इसका नाश करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि वह सौभ स्वभाव से ही अस्थिर है ।।२२।।

आभास—एवं माहात्म्यमुक्त्वा तादृशमपि यादवैः निराक्रियत इत्याह **यत्र यत्रेति** ।

आभासार्थ—इसी तरह सौभ का माहात्म्य कह कर 'यत्र यत्र' श्लोक से कहते हैं कि ऐसे का भी नाश यादव कर सकते हैं

श्लोक—**यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।**
शाल्वस्ततस्ततोमुञ्चन् शरान्सात्वतयूथपाः ।।२३।।

श्लोकार्थ—सौभ और सेनिकों सहित शाल्व जहां भी दिखता, वहां यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे ।

सुबोधिनी—उपलक्षणविधयापि यत्र प्रतीयेत **ससौभः सशाल्वः** सैनिकसहितश्च **ततः सात्वतयूथपाः शरानमुञ्चन् । तत** इति तस्माद्दूरे शाच्छाल्वस्य गमनं सूचयति । अन्यथा तत्र तत्रेत्युक्तं स्यात् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उपलक्षण विधी से भी, वह शाल्व, सौभ विमान और अपने सैनिकों के साथ जहाँ भी देखने में आ जाता तो वहां यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे, 'ततः' शब्द से यह सूचित होता है कि जहाँ बाण फेंकते उस स्थान से शाल्व दूसरे स्थान पर चला जाता, यदि वहां होते तो ततः न कहकर तत्र तत्र यों कहते थे ।।२३।।

आभास—एवं सर्वतः शरप्रक्षेपे सूक्ष्मोपि गन्तव्यदेशो रुद्ध इति सौभं सैनिकाश्च शाल्वस्य पीडिता जाता इत्याह **शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शै**रिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वत्र बाणों के फेकने से सुक्ष्म स्थल भी बाणों से व्याप्त हो जाता जिससे शाल्व के सौभ सहित सैनिक पीड़ित हुए जिसका वर्णन 'शरैरग्न्य' श्लोक से करते हैं

श्लोक—**शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।**
पाट्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥२४॥

श्लोकार्थ—अग्नि और सूर्य के समान स्पर्श वाले सर्प जैसे दुःसह, शत्रुओं के चलाये हुए तीरों से जब उसके सैनिक पीडायमान हुए तब शाल्व घबरा गया ॥२४॥

सुबोधिनी—स्पर्शे अग्न्यर्काभ्यां तुल्यता । पर्यवसाने आशीविषतुल्यता । अत एव **दुरासदैः** अप्रतीकार्यैः **शरैः पाट्यमानं पुरमनीकाः** सैनिकाश्च यस्य एतादृशः **शाल्वः अमुह्यत्** । तर्हि पलायनं तेषां प्रार्थना वा कर्त्तव्येति तत्राह **परेरितैः** । शत्रुप्रेरिता एते बाणाः अतः शत्रुजयो मरणं वा उपायः नान्य इति मोहं प्राप्तवान् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वे तीर ऐसे थे जिनका स्पर्श अग्नि व सूर्य के समान था । परिणाम में सर्पो के समान थे, अर्थात् जैसे सर्प नाश कर देते हैं वैसे ही ये भी नष्ट करने वाले हैं, फिर इनसे प्राप्त फल को रोकने का कोई उपाय भी नहीं है, ऐसे शरों से शाल्व के सौभ और सैनिक पीड़ित होने लगे, जिससे शाल्व घबरा गया ।

ऐसी दशा में वहाँ से भाग जाना अथवा उनको प्रार्थना करनी चाहिऐ, इसका उतर देते है कि ये बाण शत्रुओं के फेंके हुए हैं, उनसे मरना अथवा शत्रुओं पर विजय पाना ही उपाय है अन्य नहीं इसलिए ही शाल्व मोह को प्राप्त हुआ अर्थात् घबरा गया ॥२४॥

आभास—एवं यादवानां पौरुषमुक्त्वा शाल्वस्य सैनिकानामपि पौरुषमाह तुल्यत्वाय **शाल्वानीकपशस्त्रौघै**रिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यादवों के पुरुषार्थ का वर्णन कर अब शाल्व के सैनिकों की भी उनसे समानता दिखाने के लिए उनका पौरुष 'शाल्वानीकपशस्त्रौघैः' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।**
न तत्यजु रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापतियों के शस्त्र समूहों से यादवों के वीर बहुत पीड़ित हुए तो भी अपने रण स्थान का त्याग नहीं किया क्योंकि उनको दोनों लोकों को

जीतने की इच्छा थी ॥२५॥

सुबोधिनी—शाल्वस्याप्यनीपकाः सेनारक्षकाः तेषां च शस्त्रौघाः तै सर्वशः पीडिताः अपि **वृष्णिवीराः स्वं स्वं रणं न तत्यजुः** । अनेन भागक्लृप्त्या युद्धं जायत इति लक्ष्यते । अपरित्यागे हेतुः **लोकद्वयजिगीषव** इति । जये मरणे वा इहलोके कीर्तिः परलोके स्वर्ग इति अतो लोकद्वयजयार्थमपरित्यागः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि यादव वीर, शाल्व के सेनापतियों के शस्त्र समुहों से पीड़ित हुवे तो भी अपने २ युद्ध स्थान से हटे नहीं वहां ही डटे रहे, इससे यों समझा जाता है कि प्रत्येक के युद्ध का स्थान निश्चित था वहां ही हर एक लड़ते रहे, पीड़ित होते हुए भी स्थान न छोड़ने का कारण यह था की यादवों को दोनों लोकों को जीतने की इच्छा थी, अर्थात् जीत होगी तो इस लोक में यश होगा और युद्ध में मरने पर परलोक में स्वर्ग प्राप्ति होगी, इस प्रकार हम दोनों लोक जीत लेंगे ।

आभास—एवं साधारणयुद्धमुक्त्वा प्रधानयुद्धमाह **शाल्वामात्य** इति ।

आभासार्थ—यों साधारण युद्ध कह कर अब 'शाल्वामात्य' श्लोक से मुख्य युद्ध कहते हैं ।

श्लोक—**शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ।**
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ॥२६॥

श्लोकार्थ—पहले प्रद्युम्न से पीड़ित द्युमान नाम वाले शाल्व के बली अमात्य ने लोहे की गदा से, प्रद्युम्न पर प्रहार कर गर्जना की ।

सुबोधिनी—**अमात्यो** मुख्यमन्त्री शाल्वतुल्यः नाम्ना **द्युमान्** कान्तियुक्तश्च पूर्वं प्रद्युम्नात्पीडितः सन् **आसाद्य** निकटे आगत्य **मौर्व्या** कृष्णालोहनिर्मितया तृणविशेषबद्धचा वा **गदया व्याहत्य** ताडयित्वा **व्यनदच्छब्दं** कृतवान् । जितं जितमिति । यतो **बली** गदायां बलं प्रधानं तेन महती पीडा जातेति सूचितम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—'अमात्य' अर्थात् मुख्य मंत्री जो शाल्व के समान था । जिसका नाम द्युमान था । कान्तिवाला था । पहले प्रद्युम्न से पीड़ित होता हुआ निकट आकर, काले लोहे से बनी अथवा मूज नाम घास से बन्धी हुई गदा से प्रद्युम्न पर प्रहार किया, बाद में गर्जना की कि मैंने प्रद्युम्न को जीत लिया, जीत लिया' क्योंकि बलवान् था । गदा युद्ध में बल ही प्रधान है उससे प्रद्युम्न को विशेष पीड़ा हुई । यह सूचित किया ॥२६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **तं द्युमदिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ यह 'तं द्युमद्गदया' श्लोक में कहते हैं

श्लोक—**तं द्युमद्गदया शीर्णवक्षस्थलमरिंदमम् ।**
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ॥२७॥

श्लोकार्थ—शत्रु को दमन करने वाले उसका (प्रद्युम्न का) गदा से वक्षःस्थल विदारित हो गया तब धर्म जानने वाला दारुक का पुत्र सूत उसको युद्ध भूमि से दूर ले गया ॥२७॥

सुबोधिनी—शरीरस्यैव महती पीडा जाता। यः कश्चनात्रापकर्षः स सर्वोऽपि महादेवसन्मान-नार्थः। **द्युमतः** प्रसिद्धस्य **गदया शीर्णं वक्षस्थलं** यस्येति। स्वभावतोऽप्यप्रयोजकत्वं वारयति **अरिंदम**मिति। तदा रणस्थानात् तस्य **सूतः अपोवाह** दूरे नीतवान्। सोऽपि शत्रुपक्षपातीति शङ्काव्युदासार्थमाह **दारुकात्मज** इति। तस्य भयान्नयनं वारयति **धर्मविदिति** ॥२७॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न के शरीर को ही विशेष पीड़ा हुई, जो कुछ यहाँ प्रद्युम्न का अनादर है वह सब महादेवजी के सन्मान के लिए ही है। प्रसिद्ध द्युमान की गदा से जिसका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया है, किन्तु वह (प्रद्युम्न) स्वभाव से दृढ था यह 'अरिंदम'[1] विशेषण से सूचित किया है, उस समय उसका 'सूत'[2] उसको युद्ध स्थान से दूर ले गया, दूर ले जाने से शत्रु का पक्षपाती दीखता है ऐसी शंका का निवारण 'दारुकात्मज' और धर्म वित्त' दो विशेषणों से करते हैं, दारुक का पुत्र था इसलिए शत्रु पक्ष वाला नहीं था। यह स्पष्ट किया है और उसको भय से ले गया यों भी नहीं है किन्तु धर्म को जानने वाला था इसलिए ले गया था, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि सारथी ऐसी हालत में दूर ले जावे ॥२७॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **लब्धसंज्ञो मुहूर्तेनेति**।

आभासार्थ—अनन्तर क्या हुवा यह 'लब्धसंज्ञो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत्।**
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—दो घड़ी के अनन्तर प्रद्युम्न सचेत हुआ तब सारथी को कहने लगा कि हे सूत तुमने अच्छा कार्य नहीं किया, जो मुझे रणभूमि से यहाँ दूर ले आया ॥२८॥

सुबोधिनी—मुहूर्तमात्रं मूर्च्छितः प्रद्युम्नस्य रुक्मिणीपुत्रत्वात् मातुलादिपक्षपाताद्वा। ततो भगवदनुग्रहात् मुहूर्तानन्तरं **लब्धसंज्ञः** यतः **कार्ष्णिः** कृष्णपुत्रः अग्रे सारथिं दृष्ट्वा अनभिप्रेतं पलायनमिति बोधयन्नब्रवीत्। अहो इति तस्य तिरस्कारवचनम्। **इयं ममापसर्पणं अत्यन्तमसाधु** सर्वत्र निन्दितम्। **सूते**ति संबोधनं परिज्ञानार्थम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न दो घड़ी मूर्च्छित रहे बाद में सचेत हो गए क्योंकि एक तो रुक्मिणी के पुत्र थे और मामे आदि के पक्षपाती थे इस कारण से भगवान् का अनुग्रह हुआ जिससे दो घड़ी ही मूर्च्छा हुई। साथ में कृष्ण के पुत्र थे, सचेत होते ही अपने आगे सूत को देखा, रण से भाग आना

---

१ शत्रुओं का दमन करने वाला वीर था। २ सारथी

पसन्द न होने से सारथी को कहने लगे कि 'अहो' यह शब्द तिरस्कार सूचक है। रण से मुझे दूर ले आना बहुत बुरा है कारण कि इससे सर्वत्र निन्दा होगी सूत! यह सम्बोधन इस वास्ते दिया है कि तुम इस बात को जानते हो ॥२८॥

आभास—ननु लोके पलायमाना अपि शूरा दृश्यन्ते तत्राह **न यदुनां कुले जात** इति।

आभासार्थ—लोक में देखा जाता है कि शूरवीर भी रण से भाग जाते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'न यदुनां कुले जातः' ऐसा यादवों के कुल में नहीं हुआ है।

श्लोक—**न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः।**
विना मां क्लीबचित्तेत सूतेन प्राप्तकल्मषात् ॥२९॥

श्लोकार्थ—आज तक यादवों के कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ है जो रण से भाग आया हो केवल में ही ऐसा कायर चित्त हुआ हूँ। यह कलङ्क सूत ने ही मुझे लगाया है ॥२९॥

सुबोधिनी—**रणविच्युत** इति। रणस्थानादपसरणं न श्रुतपूर्वं मरणं वा जयो वेति न तृतीयः पक्षः। नन्वद्य चेज्जातः तदापि व्याप्तिर्भग्नैवेत्याशङ्क्याह **विना मां क्लीबचित्तेन सूतेने**ति। अहमेवैकः सोऽपि सूतेन तथा जातः सूतोपि अद्यैव तथा ज्ञातः **क्लीबचित्त** इति। अतः **प्राप्तकल्मषोऽहम्** ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यदुकुल का कोई पुरुष कोई युद्ध भूमि से भाग आया था यह आगे कभी नहीं सुना है। युद्ध में मर जाना अथवा विजय प्राप्त करना, तीसरा पक्ष ही नहीं। यदि आज भी हुआ तो यह व्याप्ति भी नष्ट हुई इस शंका का उत्तर देते हैं कि कायर चित्त मैं ही अकेला ऐसा यदुकुल में हुआ हूँ वह भी सूत के कारण से हुआ हूँ, सूत डरपोक हैं वह भी आज ही जानने में आया है इसलिए मैं कलङ्कित हुआ हूँ ॥२९॥

आभास—ननु किमेतावता तत्राह **किं न वक्ष्य** इति।

आभासार्थ—इतना कहने से क्या प्रयोजन? इस प्रकार की शङ्का का समाधान 'किं नु वक्ष्ये' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ।**
युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—पिता राम कृष्ण से मिलूंगा तब क्या कह सकूंगा, जब वे पूछेगें तब युद्ध में से भाग कर आया हुआ मैं अपनी सामर्थ्य के विषय में क्या बोल सकूंगा ॥३०॥

सुबोधिनी—**पितरौ रामकेशवावभिसंगम्य।** नु इति वितर्के **किं** वक्ष्ये। वचने प्रकारः कोऽपि नास्तीति। ननु प्रहार एव वर्तते तत्राह **युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्त** इति। धर्मादनपेतं युद्धं अतस्तस्मादपक्रमः अधर्मो भवति। तर्हि तूष्णीं स्थातव्यमिति चेत्तत्राह **पृष्टः** इति। तर्हि अशक्तिर्वक्तव्येति चेत् **आत्मनः क्षम**मिति। न हि मया अशक्तिर्वक्तुं शक्या ॥३०॥

व्याख्यार्थ—पिता राम-कृष्ण के पास जाकर क्या कहूँगा 'नु' शब्द यहाँ अनुमान अर्थ में दिया है जिसका आशय है, क्या कहूँगा ? अर्थात् कहने का कोई ढंग ही नहीं दिखता है 'वक्षः स्थल' पर प्रहार हुआ है यह दिखा देना, जिसके उत्तर में कहते हैं कि धर्म युद्ध से तो मैं भाग आया हूँ, उससे भाग निकलना अधर्म है क्योंकि यह युद्ध वह है जिसमें धर्म का उल्लङ्घन नहीं करना है, मैंने तो वहाँ से भाग कर अधर्म किया है यदि यों है तो मौन धारण कर लेना, कुछ बोलना ही नहीं, इस पर कहते है कि यदि वे पूछें तो अपनी अशक्ति कह देना, यों कहते हो तो, मुझसे अपना असामर्थ्य बताना बन न सकेगा ॥३०॥

आभास—किञ्च । सूतदोषेप्युक्ते कदाचित्पित्रा अङ्गीकर्तव्यम् । न तु भ्रातृपत्नीभिः हास्यस्वभावाभिरित्याह **व्यक्तं मे कथयिष्यन्ती**ति ।

आभासार्थ—यदि यह दोष सारथी का है यों कह दूं तो कदाचित् पिताजी इसको मान जाय किन्तु हास्य स्वभाव वाली भौजाईयाँ तो नहीं मानेगी, यह 'व्यक्तं मे' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।**
क्लैब्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥

श्लोकार्थ—मेरी भौजाइयां हँसती हँसती मुझे कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों के साथ युद्ध करते हुए आपमें क्लीवता (नपुंसकता) कैसे आ गई ॥३१॥

सुबोधिनी—उक्तेप्युपाये विपरीतं ज्ञात्वा **हसन्त्यो** भविष्यन्ति यतो **भ्रातृजामयः** कुलस्त्रियः एवं च वक्ष्यन्तीत्याह **क्लैब्यं कथं कथं वीरे**ति । हे वीर विपरीतार्थं संबोधनम् । **अन्यैः** सह ते क्लैब्यं कथं कथमिति श्रवणादरे वीप्सा । क्लैब्यं वा **कथयिष्यन्ति** । हानिकथनेप्युपहासः अन्यै सह कथं कथमिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—उपाय कहने पर भी विपरीत समझ कर हँसने लगेंगी, क्योंकि भौजाईयाँ कुलवती स्त्रियाँ हैं और हास्य (मसखरी) करती हुई इस प्रकार कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों से लड़ते हुए नपुंसकता कैसे ? तुममें आई, यों कथं कथं (कैसे कैसे) दो बार श्रवण में आदर व प्रेम प्रकट करने के लिए कहा है, बल की हानि कहने में भी उपहास ही करेंगी ॥३१॥

आभास—एवमुपालब्धस्य सूतस्य वचनं **धर्मं विजानतेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपालम्भ (ताना) प्राप्त सूत 'धर्म विजानता' श्लोक में उत्तर देता है ।

श्लोक—सारथिरुवाच—**धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।**
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥३२॥

श्लोकार्थ—सारथी ने कहा कि हे आयुष्मान ! हे विभो ! मैंने तो मेरा धर्म जानकर यह काम किया है क्योंकि सारथी का धर्म है कि जब रथी संकट में पड़े उस समय सारथी उसको उस संकट से बचावे ॥३२॥

सुबोधिनी—धर्मस्वरूपमग्रे वक्तव्यं । तर्हि मरणमस्तु किमित्यपसरणमिति चेत्तत्राह **आयुष्मन्निति** । आयुर्वर्तते । एवं सत्युपेक्षा महद्दोषाय । अत आयुर्धर्मं च विजानता **मयैतत्कृतम्** । धर्ममाह **सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेदिति** । ममाप्येवंभावे त्वया रक्षणीय इत्युपदेशार्थं वचनम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—धर्म का स्वरूप, उत्तरार्ध में कहना चाहिए, यदि कहो कि मृत्यु भले हो जाती किन्तु रण से दूर बाहर नहीं लाना चाहिए था । जिसके उत्तर में कहता है कि आयुष्मन् । अभी आपकी आयु है, यदि उपेक्षा की जाती तो मुझे महान् दोष लगता, अतः आयु और धर्म को जानने वाले मैंने यों किया है, अब धर्म कहता है 'सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेत्' सूत, संकट में पड़े हुए रथी की रक्षा करे, यों कहने का यह भी भावार्थ है कि सूत कहता है कि यदि मेरी भी ऐसी दशा हो तो आपको भी इस तरह मेरी रक्षा करनी चाहिए ॥३२॥

आभास—इदं त्वया कुतोवगतमित्याशङ्क्याह **एतद्विदित्वा तु भवानिति** ।

आभासार्थ—यह तूने कहाँ से जाना ? इस शङ्का का उत्तर 'एतद्विदित्वा' श्लोक में देता है ।

श्लोक—**एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।**
उपस्पृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

श्लोकार्थ—यह जानकर मैं आपको युद्ध से हटा ले आया हूँ । आपको शत्रु के हाथ से गदा लगी जिससे आप पीड़ित होके मूर्च्छित हो गये तब मैं आपको युद्ध से बाहर ले आया ॥३३॥

सुबोधिनी—**तु** शब्दः अज्ञानादागमनं वारयति । एतद्धर्मं ज्ञात्वैव **भवान् रणादपोवाहितः** । किं मम जातमित्याकाङ्क्षायामाह **उपस्पृष्टः परेणे**ति । इत्यमुना प्रकारेण हृदयविदारणरूपेण **परेणोपस्पृष्टः** शत्रुणा ताडितः । ताडनमाह **गदया हतः** । ततो **मूर्च्छित** इति । एतत्कृच्छ्रगमनम् । अतो धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्त ॥३३॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से सारथी अपनी अज्ञता का निवारण करता है अर्थात् मैंने आपको युद्ध से अज्ञानता से नहीं हटाया है किन्तु धर्म जानकर आपको रणभूमि से बाहर ले आया हूं । मुझे क्या हुआ जो ले आया ? जिसका उत्तर देता है कि शत्रु ने गदा से आपके हृदय को चीर डाला जिससे आप मूर्छित हो गए इस प्रकार का संकट आप पर आया देख धर्म और कीर्ति के विरोध में धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए अतः मैंने धर्म की रक्षा करना ही सिद्धान्त (निर्णय) जानकर आपको रण से बाहर लाया ॥३३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७३वें अध्याय (उत्तरार्ध के २७वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण का षष्ठम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वल्लभपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७७वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७४वां अध्याय
उत्तरार्ध २८वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अथ—" ७

शाल्व उद्धार

कारिका—**अष्टाविंशेतिपीडायां भगवत्स्मरणे कृते ।**
तद्दुःखवारणं कृष्णश्चकारेति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—दशम स्कन्ध भागवत के उत्तरार्ध के इस २८वें अध्याय में, सात्विक साधन प्रकरण के ७वें अध्याय में यों कहने में आया है कि जब यादव अति पीड़ित हुए तब उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया, जिससे उनको श्रीकृष्ण ने दुःख से छुड़ाया ॥१॥

कारिका—**द्युमतोपि वधं कृष्णश्चेत्कुर्यात्स्वयमागतः ।**
तदा प्रद्युम्नदुःखस्य न निवृत्तिर्भवेत् क्वचित् ॥२॥

कारिकार्थ—यदि श्रीकृष्ण पधार कर, स्वयं द्युमान् का वध करते तो, प्रद्युम्न का यश न होता जिससे प्रद्युम्न का दुःख कभी भी मिटता नहीं ॥२॥

कारिका—**अतः प्रद्युम्नहस्तेन मारणं तस्य रूप्यते ।**
भक्तानां दुःखदानं तु न युक्तमिति वै हरिः ॥३॥

कारिकार्थ—इस कारण से ही द्युमान् का वध प्रद्युम्न के हाथ से हुए का वर्णन भी कहा है' भक्तों को दुःख प्राप्त हो, यह भगवान् को योग्य देखने में न आवे ।३।

कारिका—**मतान्तरेणाशक्यत्वं बोधयामास वाक्यतः ।**
अन्यथा श्री शुको लीलां तादृशीं नैव वर्णयेत् ॥४॥

कारिकार्थ—अतः भगवान् मतान्तर से अपनी[1] अशक्ति दूसरों के वाक्य से कहते हैं, अन्यथा श्री शुकदेवजी वैसी लीला[2] का वर्णन ही नहीं करते ।

कारिका—**तादृग्लीलान्तरमिव वर्णितां वा न दूषयेत् ।**
एवं सिद्धान्तमज्ञात्वा लोको भ्राम्यति सर्वथा ॥५॥

कारिकार्थ—और वैसी ही वर्णित अन्य लीलाओं का खण्डन करते इसी तरह वैसे सिद्धान्त को न जानने से लोक सर्व प्रकार भ्रम में पड़ जाते हैं ॥५॥

कारिका—**कल्पान्तरे तथा चक्रे सूक्ष्मांशस्यावतारतः ।**
निरोधे यदि नो ब्रूयात् सिद्धान्तो हि विरुध्यते ॥६॥

कारिकार्थ—अन्य कल्प में सूक्ष्म अंश से लिए हुए अवतार से यों किया होगा यह चरित्र यदि यहां (निरोध में) न कहें तो सिद्धान्त में विरोध हो जाय इससे यह शुकदेवजी ने परमत भाषा कही है ॥६॥

कारिका—**शास्त्रार्थे दोषनाशाय निराकरणमुच्यते ।**
अतः स्कन्धार्थशास्त्रार्थौ पक्षाभ्यामिह रूपितौ ॥७॥

कारिकार्थ—दोष दूर करने के लिए शास्त्रार्थ में उसका निराकरण किया गया

१—बलभद्र रूप से शाल्व को जीतने की अशक्यता २—यह लीला अंशावतार की है इसलिए केवल निरोध सिद्धि के लिए ही इस लीला का वर्णन है, भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनसे कोई भी कार्य सिद्ध न हो सके वह असम्भव है। इसी तरह जब सबके यह कार्य (दुःख निवृत्ति) अशक्य हो जाता है तब भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए ऐसी बुद्धि होती है जिससे निरोध सिद्ध होता है।

है, इससे यहां दो पक्षों से स्कन्ध का अर्थ और शास्त्र का अर्थ कहा है ।।७।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते द्युमतोपकर्षे पश्चात्तापो निरूपितः । प्रद्युम्नस्य तदानी द्युमद्वधार्थं प्रवृत्तिरुच्यते **स तूपस्पृश्येति** ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में द्युमान् द्वारा प्रद्युम्न का पतन होने से उसको पश्चाताप हुआ जिसका वर्णन किया, अनन्तर प्रद्युम्न द्युमान् के वध के लिए प्रवृत हुआ वह 'स तूपस्पृश्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।**
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ।।१।।

श्लोकार्थ—उसने (प्रद्युम्न ने) तो आचमन कर, कवच पहन, धनुष धारण कर सारथी को कहा कि, मुझे वीर द्युमान् के पास ले चल ।।१।।

सुबोधिनी—मुच्छानन्तरं तथा कर्तव्यमिति सलिलोपस्पर्शनमाचमनं स्नानमित्येके । ततः पुनः **दंशितो** बद्धकवचः । नारायणकवचादिना लौकिकेन च । ततो **धृतकार्मुकः** । अनेन पूर्वं कवचरहित एव स्वपौरुषाभिमानात् गत इति लक्ष्यते । अत एव गर्वनाशार्थं भङ्गोपि । ततः **मां द्युमतः पार्श्वं नयेति** सूतं प्रति वचनम् । शत्रोः प्रशंसामाह–**वीरस्येति** ।।१।।

व्याख्यार्थ—मूर्च्छा के बाद जल का स्पर्श अर्थात् आचमन करना चाहिए जिससे 'आचमन' किया, कितने ही 'सलिल उपस्पर्शनम्' का भावार्थ बताते हैं कि प्रद्युम्न ने मूर्च्छा के पश्चात् स्नान किया, यों करने के बाद, नारायणकवच पढकर अथवा लौकिक प्रकार से कवच धारण किया, पश्चात् धनुष धारण किया, कवच धारण किया यों कहने से यह स्पष्ट किया कि, प्रद्युम्न पहले अपनी वीरता के अभिमान से बिना कवच धारण किये युद्ध में गए थे, इस अभिमान के कारण ही, इनके अहंकार का नाश होवे, इसलिए इनकी पराजय भी हुई । पश्चात् सूत को कहने लगे कि मुझे द्युमान् के पास ले चल, उस शत्रु की प्रशंसा करते हैं कि वह वीर है ।।१।।

आभास—स तु वञ्चितः सन् लज्जया आक्रोशेन मारित इति दोषव्यावृत्त्यर्थमाह **विधमन्तं स्वसैन्यानीति** ।

आभासार्थ—द्युमान् को तो वञ्चना से तथा लज्जा से अथवा कोलाहल से मारा, इस कारण से अर्थात् यों करने से दोष न लगे, जिसके लिए 'विधमन्तं' श्लोक कहा है ।

श्लोक—**विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।**
प्रतिहृत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ।।२।।

श्लोकार्थ—अपनी सैना का संहार करने वाले द्युमान् को रोककर (खोजकर)

प्रद्युम्न ने हँसते हुए उसके आठ बाण लगाए (मारे) ।।२।।

सुबोधनी—स्वबलघातकत्वान्मारणीय एवेत्यर्थः । तथाप्याक्रोशेन मारणादाह **रुक्मिणीसुत** इति । **प्रतिहृत्य** अन्विष्य भर्त्सयित्वा वा **अष्टभिर्नाराचैः प्रत्यविध्यत्** । ससामग्रीकं नाशितवानेवेत्यर्थः । **स्मयन्निति** । अधुनास्य बलं द्रष्टव्यमित्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—जो अपनी सेना का नाश करे वह मारने के ही योग्य है, तो भी कोलाहल से उसको मारा, क्योंकि 'रुक्मिणी के पुत्र हैं' 'प्रतिहृत्य' सेना में छिपा हुआ था वहां से ढूंढकर हो हल्ला करते हुए, आठ बाणों से बेधा । उसके साथ जो युद्ध सामग्री थी उसका भी नाश किया, नाश के समय आप हँस रहे थे, जिसका भाव यह था कि द्युमान् का बल अब देखने योग्य है कि कैसा वीर है ? ।।३।।

आभास—अष्टबाणानां विनियोगमाह **चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति** ।

आभासार्थ—"चतुर्भिश्चतुरो" श्लोक में आठ बाण लगाने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।**
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ।।३।।

श्लोकार्थ—चार बाणों से चार घोड़े व एक बाण से सारथी मारा, एक से धनुष, एक से ध्वजा और एक से उसका शिर काटा ।।५।।

सुबोधिनी—द्युमतः शिरः **अन्येनाष्टमेन** । यानारुह्य येन प्रेरितो येन करणेन येन लब्धप्रतिष्ठः तत्सर्वमच्छिनत् ।।३।।

व्याख्यार्थ—आठवें बाण से द्युमान् का शिर काट डाला, जिन घोड़ों पर चढकर लड़ते थे उनका चार बाणों से नाश किया, जो सारथी प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) था, उसको एक बाण से मार डाला, जिस धनुष से लड़ता था उसको भी एक बाण से नष्ट किया, जिस ध्वजा से प्रतिष्ठा प्राप्त की थी उस ध्वजा को एक ही बाण से काट डाला ।।३।।

आभास—ततोऽन्येपि प्रधाने मारिते तद्बलं मारितवन्त इत्याह **गदसात्यकिसाम्बाद्या इति** ।

आभासार्थ—प्रधान के मरने पर शेष उसकी सेना को दूसरे भी मारने लगे यह 'गदसात्यकि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।**
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ।।४।।

श्लोकार्थ—गद, सात्यकि व साम्ब आदि ज्यों ज्यों सौभपति की सेना को मारते हैं त्यों त्यों वे सब शिर कट कर समुद्र में गिरते थे ।।४।।

सुबोधिनी—**गदया** प्रद्युम्नो मारित इति स्वबलेन तत्सैन्यं मारितवन्तः । गदयामेव शौर्यं बलं च व्यापृतं भवति । ततः **सौभेयाः सर्वे** अन्तरिक्षे युद्धार्थमागताः पलायमाना वा **समुद्रे** पतिताः । **संछिन्नकन्धराः सन्तः** ।।४।।

व्याख्यार्थ—गदा से प्रद्युम्न के ऊपर प्रहार हुआ था, इसलिए प्रद्युम्न अपने बल से शत्रु की सेना को मारने लगे, वीरता और बल गदा में ही रहा हुआ है, बाद में सौभ के सैनिक युद्ध के लिए आकाश में आ गए, किन्तु पराजय के डर से भागने लगे तो भी उनके सैनिकों के शिर धड़ से अलग होके समुद्र में गिरने लगे ।।४।।

आभास—एवं भगवत्प्रतीक्षार्थं यादवशाल्वानां जयापजयरहितानां युद्धानुवृत्तिमाह **एवं यदूनामिति** ।

आभासार्थ– भगवान् के आने की प्रतीक्षा के लिए बिना जय अथवा पराजय के यादव और शाल्वों के युद्ध की अनुवृत्ति एवं 'यदूनां' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।**
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ।।५।।

श्लोकार्थ—इसी तरह यादव और शाल्व के सैनिक परस्पर हनन करते हुए सत्ताईस दिन तक, कोलाहल वाला घोर तुमुल युद्ध करने लगे ।।५।।

सुबोधिनी—**इतरेतरं निघ्नतामिति** समता । **त्रिणवरात्रं** सप्तविंशत्यहोरात्रम् । **तुमुलमत्याक्रोशयुक्तम् । उल्बणं** क्रूरं च ।।५।।

व्याख्यार्थ—परस्पर हनन करते थे, इन शब्दों से यह सूचित किया है कि दोनों समान थे, 'त्रिणवरात्रं' का अर्थ है सत्ताईस दिन तक, 'तुमुल' पद का भाव है कि 'भीषण' 'उल्बण' का अर्थ है 'क्रूर', तात्पर्य यह है कि सत्ताईस दिन तक दोनों परस्पर हनन करते हुए क्रूर और भीषण युद्ध करने लगे ।।५।।

आभास—एवं यादवानां दुरत्ययं व्यसनं गतानां महद्दुःखं निरूप्य भगवत एवमुपेक्षाऽयुक्तेति दोषपरिहारार्थं मतान्तरमारभते **इन्द्रप्रस्थं गत** इति ।

आभासार्थ—इसी भांति मिट न सके ऐसे कष्ट को प्राप्त यादवों का महान् दुःख निरूपण कर, यों ऐसे समय में भी भगवान् उपेक्षा करें वह योग्य नहीं है, ऐसे दोषारोपण के परिहार्थ दूसरा मत 'इन्द्रप्रस्थं' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।**
राजसूयेथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ।।६।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण तो युधिष्ठिर के बुलाने से इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, पश्चात् राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मारा गया, अनन्तर ।।६।।

सुबोधिनी— मतान्तरे पूर्वोक्तन्यायेन न गमनागमनेनापि संभ्रमस्तथा । तदर्थं तत्रत्यां कथामेवाह **धर्मसूनुना आहूतः** स्वयमेकाकी **इन्द्रप्रस्थं गतः** पश्चाद्बलभद्रोऽप्याहूतः । मानभङ्गस्तु तस्मिन् काले नास्ति । विद्यमानोऽपि प्रकारान्तरे वा भविष्यति । अतः बलभद्रसद्भावोऽपि न दोषाय । ततो **राजसूये निवृत्ते** भिन्नप्रक्रमेण समाप्ते **शिशुपाले च** मृते तदनन्तरमेव ।।६।।

व्याख्यार्थ—दूसरे मत में, पहले कहे हुए नियमानुसार इन्द्रप्रस्थ जाते और वहां से लौटते समय भी वैसा आडम्बर नहीं है, इसलिए वहां की कथा को कहते हैं, युधिष्ठिर ने बुलाए तब आप इन्द्रप्रस्थ एकाकी गए पीछे बलभद्र को भी बुलाया, उस समय दुर्योधन का मानभङ्ग न हुआ था ? होने वाला हो तो भी अन्य प्रकार से होगा, अतः बलभद्र का वहां होना भी दोषकारक नहीं है, पश्चात् राजसूय 'यज्ञ' दूसरे प्रकार से पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मरा जिसके अनन्तर–दूसरे श्लोक से अन्वय है ।।६।।

श्लोक—**कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।**
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ।।७।।

श्लोकार्थ—वृद्ध कौरवों से मुनियों और पुत्रों सहित भूआ पृथा से आज्ञा लेकर, अति भयानक उत्पात देखते हुए, द्वारका पधारे ।।७।।

सुबोधिनी— **कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य पुत्रसहितां** पितृभगिनीं च पृष्ट्वा अपशकुनेषु जायमानेषु द्वारकाऽस्वास्थ्यज्ञापकेषु प्राप्तशङ्क इव **घोराणि निमित्तानि पश्यन् द्वारवतीं ययौ** ।।७।।

व्याख्यार्थ—वृद्ध कौरवों से आज्ञा लेकर, पुत्रों सहित पृथा से पूछकर, द्वारका में अस्वस्थता बताने वाले अति भयानक अपशकुनों को देखते हुए द्वारका गए ।।७।।

आभास—मध्ये गच्छतश्चिन्तामाह **आह चेति** ।

आभासार्थ—जाते हुए मध्य में (मार्ग में) हुई चिन्ता का 'आह चाह' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक —**आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः ।**
राजन्याश्चेद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥८॥

श्लोकार्थ—जाते हुए मन में कहने लगे कि मैं बड़े भाई के साथ यहां आ गया, शिशुपाल के पक्षवाले, निश्चय है कि, मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

सुबोधिनी—प्रथमतः **अहमिव** इन्द्रप्रस्थे समागतः पश्चादार्य**मिश्रेण** बलभद्रेण **अभिसंगतो** मिलितः । सहैव वा आगमनं । ततो रक्षार्थमवतीर्णाशद्वयमपि द्वारकायां नास्तीति **चैद्यपक्षीया राजन्या** दैत्याः **नूनं मे पुरीं हन्युः** ॥८॥

व्याख्यार्थ—पहले में यहाँ इन्द्रप्रस्थ में आ गया हूं, पश्चात् बलभद्र भी आगए, तो उनसे मिलकर यहां ही रह गया, अथवा साथ ही आना हुआ है, रक्षण के लिए अवतार धारण करने वाले दोनों भी द्वारका में विद्यमान नहीं हैं, अतः चैद्य (शिशुपात्र) के पक्ष वाले क्षत्रिय राजा लोग जो दैत्य हैं वे निश्चय मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

कारिका—**निमित्तदर्शनं चिन्ताभङ्गश्चेति निरूप्यते ।**
मतान्तरे दोषभावं मोहका वर्णयन्ति हि ॥

कारिकार्थ—अपशकुन देखना, चिन्ता और भङ्ग अर्थात् नगरी का नाश निरूपण किया है, कारण कि मोह उत्पन्न करने वाले दूसरों के मन में दोष है यों वर्णन करते हैं ।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **वीक्ष्य तत्कदनमिति** ।

आभासार्थ:—बाद में जो हुआ वह 'वीक्ष्य तत्कदनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— **वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।**
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह केशवः ॥९॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना का नाश, सौभ और शाल्व को देख, नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, केशव ने दारुक सारथी को कहा ॥९॥

सुबोधिनी—अहोरात्रं युद्धक्लेशं **वीक्ष्य पुररक्षणमर्**थाद्बलभद्रं **निरूप्य** यथाकथञ्चित्कथाया अनुवादान्नात्रासमर्पकतादोषः नापि क्रियायाः क्रियान्तरोल्लङ्घनदोषः । **शौभं च निरीक्ष्य शाल्वराजं** च निरीक्ष्य स्वसारथिं **दारुकं** प्रति **प्राह** । स्वतः समर्थस्य सूतप्रेरणमयुक्तमित्याशङ्क्याह **केशव** इति । यथा ब्रह्मशिवौ प्रेरयति तथैनमपीत्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—दिन रात्रि अपने सैनिकों को युद्ध से होता दुःख देख, नगरी की रक्षार्थ बलभद्र को कह कर, जैसे किसी प्रकार भी कथा के अनुवाद करने से, यहां, बलभद्र को रक्षण के लिए नहीं

कहा है यह दोष और सारथि को रथ ले जाने को कहा जिससे पहले नगर के रक्षण की क्रिया का उल्लङ्घन रूप दोष नहीं है, सौभ और शाल्वराज को देखकर श्रीकृष्ण ने अपने सारथि को कहा, जब श्रीकृष्ण आप सर्व प्रकार समर्थ हैं तब सारथि को प्रेरणा करें, वह योग्य नहीं है । इस शङ्का का समाधान करने के लिए इनका नाम यहां 'केशव' कहा है जिसका भावार्थ है कि जैसे ब्रह्म और शिव को प्रेरणा करते हैं वैसे इसको भी प्रेरणा की है ॥९॥

आभास—तस्मिन् कल्पे सारथिः प्राकृत इति संबोधयति—**रथं प्रापयेति** ।

आभासार्थ—उस कल्प में सारथि प्राकृत था इसलिए 'रथं प्रापय' श्लोक में सूत को सूचित करते हैं ।

श्लोक – **रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।**
संभ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे सूत! मेरे रथ को शीघ्र ही शाल्व के पास ले चल, तू किसी प्रकार डर मत, यह सौभराट् मायावी है ॥१०॥

सुबोधिनी—**संभ्रमो** भयं । **ते** त्वया । यतः **सौभराट् मायावी**ति तस्य स्तुतिः । पूर्वप्रेरणायां दारुको विकलः स्थित इति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—'संभ्रमः' अर्थात् भय, तुझे (भय) नहीं करना चाहिए तात्पर्य यह है कि तू डर मत, क्योंकि यह सौभराट् (सौभ विमान में प्रकाशमान) शाल्व मायावी है, मायावी विशेषण से उसकी स्तुति की है, जब प्रेरणा की तब दारुक मूढ था, प्रेरणा के अनन्तर मूढता निवृत्त हो गई ॥१०॥

श्लोक—**इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।**
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥११॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार आज्ञा होते ही, रथ में बैठकर दारुक ने रथ चलाया । अपने (यादवों) और शत्रु (शाल्व के पक्ष वालों) ने गरुड़ को युद्ध भूमि में प्रवेश करता हुआ देखा ॥११॥

सुबोधिनी—एवं भगवता उक्तः भगवन्तं मानयामास तथैव करिष्यामीति भयं त्यक्त्वा प्रवृत्त इत्यर्थः । **रथं** सम्यगा**स्थाय** यतो दारूणां शिरोरूपः सुखरूपो वा अतस्तदिच्छानुसारेण दारूणां चलनमुक्तम् । ततो रथस्य शीघ्रगत्या रेणुभिराच्छादने रथमदृष्ट्वैव **सर्व** एव **स्वे परे** च **अरुणानुजं** गरुडमेव **विशन्तं ददृशुः** ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाया हुआ दारुक कहने लगा कि जैसी आपने आज्ञा की है वैसा ही करूंगा । यों कहकर, निडर होकर रथ चलाने में प्रवृत्त हुआ । रथ में अच्छी

तरह बैठा क्योंकि इसका नाम है 'दारुक' जिसका अर्थ है, 'दारु' काष्ठ का 'क' सुख रूप अथवा शिरोरूप वह है, जिसका तात्पर्य है कि, इसकी इच्छानुसार ही काष्ठ (रथ) चलता है, अतः रथ बहुत तेज चला जिससे रेत उड़ी, उस रेत से रथ आच्छादित हो गया, इस कारण से रथ को कोई देख न सका, अपने और शत्रु के सैनिकों ने केवल गरुड़ को ही प्रविष्ट होते देखा ।।११।।

आभास—ततः शाल्वेनैव कृष्णो दृष्ट इत्याह—**शाल्वश्चेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व ने ही श्रीकृष्ण को देखा, यों 'शाल्वश्च' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— **शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।**
प्राहरत्कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ।।१२।।

श्लोकार्थ—जिसकी बहुत सेना नाश हो गई है, ऐसे शाल्व ने कृष्ण को देख, कृष्ण के सूत पर भयङ्कर शब्द करने वाली लड़ाई में ही अपनी शक्ति चलाई ।।१२।।

सुबोधिनी—हतप्रायबलस्येश्वरः सोपि निरन्तरयुद्धेन क्लिष्टः । ततः क्रोधेन सूतेन रथः शीघ्रमानीत इति **कृष्णसूताय भीमरवां शक्तिं** प्राहिणोत् । **मृधे** युद्धे सावधानदशायाम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—शाल्व अपनी बहुत सेना के नाश से और निरन्तर युद्ध चलने से दुःखी था, सूत भी आज्ञानुसार शीघ्र रथ को ले आया, इस कारण से सारथि पर क्रोध आ जाने से, उस पर भयंकर ध्वनि वाली शक्ति को फेंकी, जिस समय शक्ति फेंकी उस समय शाल्व सावधान था क्योंकि युद्ध में खड़ा था ।।१२।।

आभास—ततस्तन्निराकरणमाह—**तामापतन्तीति** ।

आभासार्थ—पश्चात् उस शक्ति का भगवान् ने निराकरण किया, यह 'तामापतन्तीं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।**
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ।।१३।।

श्लोकार्थ—उल्का के समान वेग से आती हुई एवं दिशाओं को प्रकाशित करती हुई, उस शक्ति को श्रीकृष्ण ने आकाश में होते हुए ही बाणों से सैकड़ों टुकड़े कर डाले ।।१३।।

सुबोधिनी— दर्शनेनापि भयजनकत्वायाह **महोल्कामिवेति** । **रंहसा आपतन्तीमिति** प्रतीकारान्तरं निराकृतम् । **भासयन्तीं दिश इति** तस्या माहात्म्यं फलावश्यकत्वाय । ततो भगवान् **सायकैः** बहुभिरेव **शतधा अच्छिनत्** ।।१३।।

व्याख्यार्थ—'महोल्कामिव' पद से उसके स्वरूप का वर्णन किया है कि, जिसके देखने से भी भय उत्पन्न होता है ऐसी भयानक थी, 'रंहसा आपतन्तीम्' पद से यह सूचित किया है कि वह ऐसे भयंकर (जबरदस्त) वेग से आ रही थी, जिसका कोई भी प्रतिकार न हो सके, 'भासयन्तीं दिश' सकल दिशाओं को प्रकाशित करने के गुण से जिसका माहात्म्य प्रकट किया है और इसका फल भी अवश्य होगा यह भी सूचना दी, ऐसा जानकर भगवान् ने बहुत ही बाणों से वहां ही (आकाश में ही) उसके सैकड़ों टुकड़े कर डाले ।।१३।।

आभास—ततः प्रहारकर्तुरपि प्रहारं कृतवानित्याह—**तं चेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रहार करने वाले पर भी प्रहार किया, यों 'तं च षोडशभिः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तं च षोडशभिर्विद्धा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।**
अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभि ।।१४।।

श्लोकार्थ—सोलह बाणों से शाल्व को वेध डाला, आकाश में घूमते हुए सौभ विमान को बाणों से ऐसे वेधित किया, जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है ।

सुबोधिनी—**षोडशभिर्बाणैरष्टाङ्गेषु** द्वाभ्यां द्वाभ्यां वेधः । **सौभं** च षोडशभिः **खे भ्रमदेव** न तु स्थितं आदौ तं विद्ध्वा रक्षाया अभावे **सौभं** च **अविध्यत्** । तत्र तु **शरसन्दोहा** एव बहव एव उपर्यधश्च । वेधार्थं दृष्टान्तः **स्वं सूर्य इवेति** । अनेनाकाशस्य पीडाभाव इव सौभस्यापि पीडाभावो निरूपितः । महादेवप्रशंसेयम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—शाल्व के आठ अङ्गों में से एक एक अङ्ग को दो दो बाणों से वेध डाला और आकाश में फिरते हुए सौभ को भी शाल्व के रक्षा के अभाव में उसको भी बहुत बाणों से नीचे से तथा ऊपर से छेद डाला, दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है, यों कहने (इस दृष्टान्त) से यह बताया कि जैसे आकाश को पीड़ा नहीं होती है वैसे सौभ को भी पीड़ा नहीं हुई, सौभ को पीड़ा न हुई यह महादेव की प्रशंसा है ।।१४।।

आभास—ततो महादेवभक्त्या सौभातिक्रमे कृते शाल्वोऽप्यतिक्रमं कृतवानित्याह **शाल्वः शौरेरिति** ।

आभासार्थ—अनन्तर सौभ पर आक्रमण (हमला) देख, महादेव की भक्ति से शाल्व ने भी आक्रमण किया, जिसका वर्णन 'शाल्वः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।**
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—शाल्व ने तो शार्ङ्ग धनुषधारी शौरि के शार्ङ्ग सहित सव्य हस्त को वेध डाला, जिससे शार्ङ्ग हस्त से गिर गया, यह अद्भुत लीला हुई ।।१५।।

सुबोधिनी—**तु** शब्दः सिद्धान्तं वारयति । **सव्यं दोः** वामं बाहुं सायुधं च । यतोयं **शार्ङ्ग**-**धन्वेति** प्रसिद्धः । एवं प्रसिद्धहेतुसहितं महापराक्रमसहितं निराकृतवानिति महादेवप्रशंसा, **हस्तात् न्यपतदित्यपि** ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'तु' पद देने का आशय यह है कि इसमें जो कहा गया है वह सिद्धान्त नहीं है, आयुध सहित सव्य हस्त वेध डाला, कारण कि शार्ङ्ग धनुष वाला इस नाम से आप प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार प्रसिद्धि का कारण जो शार्ङ्ग धनुष है उसके साथ शौरि (बहुत पराक्रमी) का भी हस्त में से शार्ङ्ग धनुष गिरने से निराकरण किया, यह केवल महादेव की स्तुति के लिए कहा है ।।१५।।

श्लोक—**हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।**
विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—वहां जो देख रहे थे उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, उसी समय शाल्व बडी ऊँची गर्जना कर भगवान् से यों कहने लगा ।।१६।।

सुबोधिनी—(तत्र पराक्रमसहितं) **तत्र पश्यतां भूतानां** अभूतपूर्वत्वाद्धाहाकारः । एवं कायिकनिराकरणमुक्त्वा वाचनिकमाह **विनद्येति** । जितं जितमिति विनदनमुक्त्वा । ततः **सौभराट्** सौभे विराजनानः । **जनार्दनम**विद्याया अपि नाशकम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—(तत्र–वहाँ पराक्रम सहित) वहां जो प्राणी देख रहे थे, उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, क्योंकि पहले ऐसा कभी नहीं हुआ है, इस प्रकार काया से किया हुआ निराकरण कह कर, अब वाणी से पराजय करता हुआ प्रबल ध्वनि से कहता है कि मैं जीत गया जीत गया, पश्चात् सौभ में विराजमान शाल्व, अविद्या नाश करने वाले को निम्न दो श्लोकों से यों कहने लगा ।।१६।।

आभास—भ्रान्तः सन्निधमाह **यत्त्वयेति** ।

आभासार्थ—शाल्व भ्रान्त होकर 'यत्त्वया' श्लोक से दो श्लोकों में यह कहने लगा ।

श्लोक—**यत्त्वया मूढ़ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।**
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे मूर्ख[1] ! मेरे भाई व सखा शिशुपाल की स्त्री को हमारे देखते हर ले गया, और सभा के बीच असावधान बैठे हुए हमारे मित्र को तूमने मारा ।।१७।।

१—वास्तव में हे अमूढ ! हे ज्ञानी !

सुबोधिनी—तस्य वाक्यं निरूप्यते । **अमूढेति** छेदः । नः **सख्युः** शिशुपालस्य तव **भ्रातुः** भ्रातृरूपसख्युर्वा **ईक्षतामस्माकं** सतामेवाकिञ्चित्कराणामग्रे **हृता** । अनेन स्वाभाविकशौर्यात्तव महच्छौर्यमिति स्तुतिरुक्ता । न केवलं तद्भार्या आत्मसात्कृता किन्तु सोपीत्याह **प्रमत्तः स सभामध्य** इति । सोऽपि समर्थः तथापि प्रमत्तत्वात्सभायां **त्वया व्यापादितः** न तु युद्धे अतः स सखेति हेत्वर्थं पुनः कथनम् ।।१७।

व्याख्यार्थ—शाल्व के वचन कहते हैं कि 'अमूढ' यों पदच्छेद करना चाहिए, आपके भ्राता तथा हमारे मित्र शिशुपाल की, अथवा हमारे भ्रातृ रूप सखा शिशुपाल की भार्या[1] को, शान्त, हम लोगों के देखते हुए हरण कर गए, इससे यह बताया है कि आपका शौर्य साधारण शौर्य से विशेष है, यों कहना एक प्रकार स्तुति ही है, न केवल उसकी भार्या का अपहरण किया किन्तु उसको भी अपना बना लिया, वह भी शक्तिशाली था किन्तु असावधान था जिससे आपने सभा के मध्य में उसको मार डाला, किन्तु युद्ध में नहीं मारा है, अतः समझा जाता है कि वह सखा था, इस कारण को बताने के लिए फिर कहा है ।।१७।।

आभास—ततः स्वकर्तव्यमाह **तं त्वेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तं त्वाद्य श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हैं ।

श्लोक—**तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।**
नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ।।१८।।

श्लोकार्थ—अजितपन का अभिमान करने वाले, यदि मेरे सामने खड़े रहे तो आज ही मेरे तीक्ष्ण बाणों से तुझे वहां पहुंचा दूंगा जहां से फिर लौट न सकोगे ।।१८।।

सुबोधिनी—निशितैरिति स्वपौरुषख्यापनम् । ।।१८।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हुए जो 'बाणैः' पद का 'निशितैः' विशेषण दिया है, वह अपना पौरुष प्रकट करने के लिए है ।।१८।।

आभास—भगवांस्तु वाक्येन शब्दातिक्रमं निवारयति **वृथा त्वं कत्थस** इति ।

आभासार्थ—भगवान् तो, शाल्व ने जो वाणी से प्रहार किया है, उसका 'वृथा त्वं कत्थसे' श्लोक में कहे वाक्य से निवारण करते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—**वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।**
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ।।१९।।

१ स्त्री

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे मन्द ! तूं वृथा बकवाद कर रहा है, निकट जो काल खड़ा है, उसको नहीं देख सकता है, शूरवीर बहुत बकते नहीं हैं, अपना पराक्रम दिखलाते हैं ।

सुबोधिनी— अर्थस्य बाधितत्वादत एव मन्दत्वं प्रत्युत विपरीतं तवास्तीत्याह **न पश्यसीति** । **अन्तिके** मच्चाग्रे तवान्तकोस्तीति इदमप्यमैक्तमिति जयापजययोः अव्यवस्थेति शूराणां स्वप्रशंसाकथनमयुक्तमिति तमुपदिशति **पौरुषं दर्शयन्ति स्मेति** । पौरुषं पुरुषशरीरबलम् । **शूराः** क्षत्रियाः । ब्राह्मणानां तु वाग्बलमेव भवति इति तव्युदासः ।।१९।।

व्याख्यार्थ:—तुमने जो कुछ विषय कहा वह बाधित है, अर्थात् होने वाला नहीं है इसलिए तूं मन्द है अपितु (बल्कि) जो तूं कह रहा है उससे विपरीत होने वाला है जिसको तूं मूर्ख होने से देख नहीं सकता है, शीघ्र ही मुझ से तेरी मृत्यु होने वाली है । यों कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जय वा पराजय की व्यवस्था नहीं है, शूरवीरों को अपनी प्रशंसा करनी योग्य नहीं है यों कह कर उसको उपदेश करते हैं कि 'पौरुषं दर्शयन्ति स्म' पुरुष शरीर का बल अथवा अपनी शरीर की शक्ति प्रकट कर दिखाते हैं । क्योंकि क्षत्रिय, शरीर बल से ही शूर कहलाते हैं, ब्राह्मणों का बल वाणी में है, इसलिए उसका इसमें समावेश नहीं किया है ।।१९।।

आभास—एवमुक्त्वा स्ववाक्यसत्यत्वाय भगवान्स्वपौरुषं दर्शयामास **इत्युक्त्वेति** ।

आभासार्थ—यों कहकर भगवान् अपना कहना सत्य करने के लिए अपना पौरुष दिखाने लगे, जिसका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया ।**
ततोड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ।
गदायां संनिवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।।२०।।

श्लोकार्थ—यों कहकर, भगवान् ने क्रोधित हो, भीम वेग वाली गदा से शाल्व के हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, गदा पीछे लौट गई तब शाल्व अन्तर्द्धान हो गया ।

सुबोधिनी—यतो **भगवान्** समर्थः । **भीमवेगये**त्यलौकिकं सामर्थ्यं निराकृतम् । **जत्रौ** कण्ठमालास्थिथिनि । **संरब्धः** क्रोधेन क्रियावेशमात्रं वा । ततः **स** शाल्वः: **असृग्वमन् चकम्पे** । ततस्तस्य लोहितं दृष्ट्वा कृतकार्या गदा निवृत्ता तस्यां **निवृत्तायां** प्रहारान्तरेण मरणं भविष्यतीति निश्चित्य असुरत्वाद्भगवद्रूपां मायां प्रार्थयितुमन्तरधियत । तु शब्देन महादेवपक्षो निवारितः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—क्योंकि भगवान् सर्व प्रकार शक्ति वाले हैं, 'भयंकर वेगवाली' इस विशेषण से

इससे अलौकिकता का निराकरण किया, 'जत्रौ' का अर्थ कण्ठमाला की अस्थियां अर्थात् हंसलियां, 'संरब्धः' क्रोध से अथवा क्रिया के आवेश मात्र से वैसी गदा का हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह शाल्व लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, पश्चात् उसको लोहू से लाल हुआ देख अपना कार्य सिद्ध हो गया समझ गदा लौट आई, उसके लौट जाने पर शाल्व ने सोचा कि इसी से बच गया हूं तो क्या ? फिर दूसरे प्रकार से मरूंगा, यह निश्चय जानकर, असुर होने से भगवद्रूप माया को प्रार्थना करने के लिए अन्तर्द्धान हो गया 'तु' इस शब्द से यह आशय प्रकट होता है कि महादेव अब इसका पक्ष नहीं लेते हैं ।।२०।।

अभास—ततो भगवद्रूपमायाकृत्यमाह **ततो मुहूर्त** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'ततो मुहूर्त' श्लोक में भगवद्रूप माया का कार्य कहते हैं ।

श्लोक—**ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।**
देवक्या प्रहितोस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—पश्चात्, दो घड़ी के बाद एक पुरुष ने आकर, भगवान् का शिर से प्रणामकर, रोते हुए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है ।।२१।।

सुबोधिनी—मुहूर्तानन्तरं कश्चित्पुरुषः समागतः । इदं मानसनिराकरणम्, तेन मनसा प्रार्थितेनेश्वरेण क्रियत इति भगवतोऽपि मनस्येव काचित्प्रतिभा सैव, स पुरुषो मायिकः तथापि भगवदीय इति भगवत्समीपागमनेपि न तस्य नाशः । सोऽपि व्यामोहार्थमच्युतमव्यामुग्धं **देवक्या** अहं **प्रहित** इति आत्मानं निवेद्य पश्चाद्भगवन्तं **नत्वा रुदन्वचः प्राह** । देवक्यन्तरङ्गत्वख्यापनाय रोदनम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—एक मुहूर्त के बाद कोई पुरुष आया, यह मन से किया हुआ निराकरण है, शाल्व ने भगवद्रूप माया को मन से एक पुरुष की प्रार्थना की, भगवान् तो कर्त्ता हैं, जिससे उसके मनसे भी वह ही कोई प्रतिमा (मूर्ति) प्रादुर्भूत हो गई, वह पुरुष मायिक था, तो भी भगवदीय होने से भगवान् के पास आने पर भी उसका नाश न हुआ, उसने अच्युत भगवान् जो कभी मोह को प्राप्त नहीं होते हैं उनको मोहित करने के लिए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है, यों बताकर फिर भगवान् को प्रणाम कर, रोता हुआ निम्न वचन कहने लगा, उसका रोना इसलिए था कि भगवान् समझें कि यह देवकी का अन्तरङ्ग सेवक है ।।२१।।

आभास—तस्य वाक्यं **कृष्ण कृष्णेति** ।

आभासार्थ—'कृष्ण कृष्ण' इस श्लोक में उस पुरुष ने जो कहा वह कहते हैं ।

श्लोक—**कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।**
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहु ! हे पितृवत्सल ! कसाई जैसे पशु को ले जाता है, वैसे शाल्व आपके पिता को बांधकर ले गया है ।।२२।।

सुबोधिनी—दुःखे वीप्सा । **महाबाहो** इति क्रियाशक्तिसामर्थ्यम् । वाच्यमाह **पिता ते** इति । **पितृवत्सलेति** । अभिमानार्थं संबोधनम् । **बद्ध्वा अपनीत** इति महत्यपमानना । स्वयमेव त्यक्ष्यतीति शङ्काभावाय दृष्टान्तमाह **सौनिकेनेति** । सूनायां प्रसिद्धः मारक एव अतो मारणार्थं नीतवानित्यर्थः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार दुःख प्रकट करने के लिए कहा है, हे महाभुज ! विशेषण से यह कहा कि आप में पूर्ण क्रिया शक्ति का सामर्थ्य है, आपके पिता को शाल्व बान्ध कर ले गया है, आप पितृवत्सल हैं यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि अपने मान का ज्ञान होवे, बान्ध कर ले गया है, इससे बताया है कि शाल्व ने बहुत अपमान किया है, ले गया है तो क्या ? स्वतः छोड़ देगा, ऐसा कृष्ण के मन में आवे तो उसके निराकरण के लिए कहा कि कसाई की तरह बान्ध कर ले गया है, जिसका भावार्थ है कसाई मारने के लिए ले जाता है वैसे यह भी मारने के लिए ले गया है अतः छोड़ देगा यों मत विचारो ।।२२।।

आभास—निराकरणार्थं भगवति भातमित्याह **निशम्य विप्रियमिति** ।

आभासार्थ—यों देखने में आया कि भगवान् की पराजय हुई हैं जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।**
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ।।२३।।

श्लोकार्थ—यह अप्रिय वचन सुनकर, मनुष्य प्रकृति को प्राप्त दयालु भगवान् मन में उदास हो, प्राकृत की भांति स्नेह से कहने लगे । २३।।

सुबोधिनी—**मानुषीं** मनुष्यस्वभावमङ्गीकृतवान् । ततस्तत्स्वभावात् **विमनस्कः घृणी** पितरि कृपावांश्च । ततः**स्नेहाद्वक्ष्यमाणं बभाषे** ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उस समय भगवान् ने मनुष्य स्वभाव को अङ्गीकार किया । पश्चात् मनुष्य स्वभाव के कारण उदास और पिता पर दयालु, भगवान्, स्नेह के कारण, २४वें श्लोक में वर्णित शब्द कहने लगे ।।२३।।

आभास—'मनः पूर्वं वागुत्तररूपम्' इति श्रुतेः । 'तस्य यजुरेव शिरः' इति मानसपुरुषस्य शब्दप्रकृतिकत्वात् शोकशब्दाभावे मानसपीडा पूर्णा नोक्ता भवतीति शब्दोपि निरूप्यते **कथं राम**मिति ।

आभासार्थ—'पहला रूप मन है दूसरा अन्तिम रूप वाणी है' इस श्रुति के अनुसार तथा

उसका यजुष् ही शिर है, इस श्रुति के अनुसार, मानस पुरुष, शब्द प्रकृति वाला होने से, जब तक शोक के शब्द बाहर नहीं निकाले जाते हैं तब तक मन की पीड़ा पूर्ण (नाश) नहीं होती है, इसलिए भगवान् के कहे हुए वचन 'कथं राम' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**कथं राममसंभ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।**
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ।।२४।।

श्लोकार्थ— जिसको सुर और असुर जीत नहीं सकते ऐसे सावधान राम को जीत कर तुच्छ शाल्व, मेरे पिता को कैसे ले गया ? प्रारब्ध बलवान है ।।२४।।

सुबोधिनी—रामो रक्षार्थं नियुक्तः स चा**संभ्रान्तः** अतिसावधानः समयविशेषात् । अतिक्रमस्तु तस्याशक्य एत्याह-**सुरासुरैरजेय**मिति । अयं सर्वोत्तमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शाल्वेनाल्पीयसा नीत** इति । मे पितेति । भाग्यं वा तस्य कथं न रक्षकं जातमित्यर्थः । सर्वातिक्रमस्य दृष्टत्वात् नित्येच्छो **विधिरेव बलवान्** ।।२४।।

व्याख्यार्थ—राम को रक्षा के लिए वहां रख आए थे, वहां वह बहुत सावधान भी थे, क्योंकि सावधान रहने का समय है, वैसे राम को जीतकर आना तो आशक्य है कारण कि देव और दैत्य भी जिसको नहीं जीत सकते, उसको यह क्या जीत सकेगा ? यह शाल्व सबसे उत्तम है, इसलिए जीता होगा, जिसका उत्तर देते हैं कि यह तो एक तुच्छ मनुष्य है वह जीत नहीं सकता है वह मेरे पिता को कैसे ले गया ? कदाचित् शाल्व को दैव ने साथ दिया है तब लेजा सका है, अतः नित्य इच्छावाला दैव ही बलवान् है ।।२४।।

आभास—न केवलं नयनमात्रं तदा मानसः क्लेशः संदिग्धोपि भवेत् किंत्वनर्थान्तरमपीत्याह **इति ब्रुवाण** इति ।

आभासार्थ—केवल ले गया, इतना ही होता तो वो मन के क्लेश में सन्देह हो जाता, किन्तु यहां तो दूसरा भी अनिष्ट हुआ, जिसका वर्णन 'इति ब्रुवाणे' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।**
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ।।२५।।

श्लोकार्थ—भगवान् यों कह ही रहे थे कि इतने में वसुदेव जैसा पुरुष लेकर शाल्व आकर उपस्थित हुआ और वह श्रीकृष्ण को २६वें श्लोक में कहे हुए वचन कहने लगा ।।२५।।

सुबोधिनी—**प्रत्युपस्थितः** आभिमुख्येन समायातः । ततो **वसुदेवमिव** मायिकं कंचन पुरुषं समानीय **कृष्णमिदं** वक्ष्यमाणमुवाच । यतः स उपासितमायारूपभगवान् ।।२५।।

व्याख्यार्थ—'प्रत्युपस्थितः' कृष्ण के सामने (शाल्व) आकर खड़ा हुआ, अपने साथ बनावटी वसुदेव जैसा कोई पुरुष भी लाया था, उसने श्रीकृष्ण को नीचे श्लोक में कहे हुए शब्द कहे ॥२५॥

आभास—तस्य वाक्यं **एष ते जनिता तात** इति

आभासार्थ—'एष ते जनिता' श्लोक में उसके वचन हैं।

श्लोक—**एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि।**
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे बालिशः! तेरा जन्मदाता यह पिता है, जिसके लिए तू जीता है, उसको तेरे देखते हुए अभी मार डालूंगा, जो शक्ति होवे तो इसको बचाले ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवत्त्वादिन्द्रियप्रवृत्तिः। अजनिता अतात इति तु वस्तुस्थितिः। कृतेऽपि भूभारहरणे स्थितिः पित्रर्थेति मन्यते यद्यप्यन्येषां स्थितिर्बहुकार्यार्था तथापि पितृभक्तस्य एतदेव कार्यमित प्रकृते क्लेषाधिक्याय आरोपन्यायेन पितृभक्तत्वं वदन् स्वतः पीडां कर्तुमशक्तः तदभावे स्वत एव पीडितो भविष्यतीति तथोक्तवान्। अधिकक्लेशार्थमाह **वधिष्ये** इति। क्रिया तु कर्तव्यैवेति। प्रतिज्ञाहान्यर्थं **ईशश्चेत्पाहीत्युक्तवान्**। स्वबुद्धचा संबोधनं बालिनोऽपि शं यस्मादिति। स्वयमेव द्वेषिणामप्युपकारं करोषीति मारणेनास्मान् कृतार्थान् कुर्विति प्रार्थना। मतान्तरभाषेति पदार्थो नात्राभिप्रेत इति न पदानाम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—शाल्व माया रूप भगवान् होने से उसकी यों बोलने में प्रवृत्ति हो सकी, मूल श्लोक में वास्तविक तो कहा कि वह पुरुष आपका अजनिता (जन्मदाता नहीं) और 'अतात' (पिता नहीं) है, यद्यपि श्रीकृष्ण की भूभार हरण के लिए वास्तविक स्थिति है और वह किया भी है, तो भी शाल्व मानता है कि पिता के वास्ते स्थिति है। यद्यपि लोक में दूसरों की स्थिति, बहुत कार्यों के करने के वास्ते होती है, किन्तु पितृ भक्त के लिए पिता की स्नेह से सेवा करने के लिए ही होती है, इसलिए प्रकृत विषय में, पिता के भक्त को पिता को दुःखी देखकर अधिक क्लेश होता है और उसको दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना पड़ता है, इस प्रकार आरोप न्याय से पितृ भक्तत्व कह कर यह बताया कि स्वयं श्रीकृष्ण को पीड़ा देने में असक्त होने से स्वयं (खुद) ही दुःखी होगा, इसी तरह विशेष दुःख देने के लिए फिर वाणी से कहने लगा कि मैं इसको 'मारूंगा' यदि यह मेरी प्रतिज्ञा असत्य करने की शक्ति हो तो, इसकी रक्षा करो, शाल्व ने अपनी बुद्धि के अनुसार 'बालिशः' सम्बोधन दिया है, जिसका भावार्थ है कि आपने बालि का भी कल्याण ही किया था; क्योंकि आप शत्रु का भी कल्याण करने वाले हैं, अतः जैसे उसको मारकर उसका हित किया वैसे मेरा भी हित करो। यों प्रार्थना की है, यह मतान्तर भाषा है अतः यहां पदों का अर्थ इच्छित नहीं है, जिससे पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं किया गया है ॥२६॥

आभास—अर्थान्तरं वर्ण्यते।

आभासार्थ—अर्थके अन्तर को वर्णन करते हैं।

श्लोक—**एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः।**
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मायावी शाल्व ने भगवान् का तिरस्कार कर, खड्ग से वसुदेवजी का शिर काट डाला, उसको लेकर आकाश में स्थित सौभ में जाके बैठा।

सुबोधिनी—**निर्भर्त्सनं** अभिमानप्रच्यावनं तथाकरणे बलं **मायावी**ति। 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः। 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावति' इति च भगवतेव भगवान् एवं क्रीडतीति न काप्यनुपपत्तिः। अतो भगवदावेशात् लीला प्रदर्शकं **आनकदुन्दुभेः शिरः खड्गेनोत्कृत्य** पुनर्योजनाभावाय **खस्थं** आकाशस्थितं **सौभं** मूलाश्रयं **समाविशत्** ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'निर्भर्त्सनं' इस पद का तात्पर्य है कि सामने वाले का तिरस्कार करना अर्थात् उसका अभिमान उतारना, शाल्व ने ऊपर कहे हुए शब्दों से श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया, ऐसा करने की शक्ति इसमें कैसे आई? इस शङ्का को 'मायावी' पद से मिटाता है अर्थात् माया के कारण शक्ति आई है, 'मायेत्यसुराः' इस श्रुति के अनुसार असुरों का भगवान् माया है, 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावाऽवति' उस माया रूप भगवान् की जिस जिस भावना से उपासना की जाती है, वह[1] वैसा होकर, उस उपासक की रक्षा करता है, इस श्रुति के अनुसार, इस प्रसङ्ग में भगवान् ही भगवान् से क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिए किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है अतः भगवान्[2] के आवेश से लीला दिखाने वाले की तरह वसुदेव का शिर तलवार से काट कर फिर वह जोड़ा न जावे इसलिए आकाश में स्थित 'सौभ' जो उसका मूल आश्रय था उसमें शाल्व ने प्रवेश किया। २७॥

श्लोक—**ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः।**
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवान् तो स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् हैं तो भी कुछ देर तक स्वजन स्नेह से मनुष्य स्वभाव में मग्न रहे, बाद में स्वतः भगवान् से समझ लिया कि, यह तो मय की दी हुई माया शाल्व ने चलाई है ॥२८॥

सुबोधिनी—**एतन्मुहूर्तमात्रं**। तृतीयेऽपि मुहूर्ते भगवान् इममर्थं चिन्तयन् तूष्णीं स्थितः। अनेन बलभद्ररक्षाभावशङ्कापि निवारिता। तदनन्तरं मुहूर्तमात्रं **प्रकृतावेवोपप्लुतः** सन् पश्चान्मानुषीं प्रकृतिं परित्यज्य अन्यप्रबोधाभावेपि **स्वबोध** एव **आस्ते**। स्वज्ञानशक्तिं प्रकटीकृतवान्। अत्रापि क्रियाव्यवहितेन सम्बन्धः। **स्वजनानुषङ्गतः प्रकृतावुपप्लुत** इति अस्वजनानुषङ्गतो वा तस्य स्वजनानुषङ्गो नास्तीति मोहाभावात् जिज्ञासया स्वबोधे स्थितिर्जातित्यर्थः। ननु तथाप्युपदेशाभावे

१—माया रूप भगवान्, २—माया रूप भगवान्।

कथं ज्ञाननिष्ठा तदाह **महानुभाव** इति । तदा तामासुरीं मायामबुध्यत् । इदं ममैव रूपान्तरमिति । आत्मजिज्ञासायामेव आत्मावबोध इति । अनेन तस्मिन्नपि कल्पे भगवतः शुद्धब्रह्मत्वमित्युक्तम् । अज्ञत्वादिलीला सर्वावतारेष्विति न काप्यनुपपत्तिः । परमुपक्रान्ते भागवते कृष्णो नैवंविधइति अत्रापि साधारण्येन योजयतां दूषणमग्रे वक्तव्यं सा माया कुत उत्पन्ना, किं निष्ठेति तद्द्वयं निर्दिशति **शाल्वप्रसूतां मयोदितामिति** । शाल्वे व्याप्तां मयेन च निरूपिताम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—यह मानुषी प्रकृति की लीला केवल एक मुहूर्त्त ही की है, तीसरे[1] मुहूर्त्त में इस विषय का विचार करते हुए शान्त रहे । बलदेवजी ने वसुदेव की रक्षा नहीं की यह शङ्का भी इससे मिटा दी । इसके बाद केवल एक मुहूर्त्त प्रवृति में मग्न होके, उस मानुषी प्रकृति का त्याग कर अन्य द्वारा ज्ञान प्राप्त न होते हुए भी स्वतः स्वयं सब समझ गए, क्योंकि अपनी ज्ञान शक्ति जिसको मुहूर्त्त मात्र तिरोहित किया था उसको पुनः स्वयं प्रकट किया जिससे समस्त ज्ञान हो गया ।

पहले कहा है कि स्वजनों के सम्बन्ध के कारण प्रकृति में मग्न हुए और यहां कहा कि स्वतः ज्ञान उद्भूत हुआ, यों होने में (स्वतः ज्ञान उत्पन्न होने में) क्रिया से पृथक् होने वाले ज्ञान का सम्बन्ध है, अथवा 'अ स्वजनानुषङ्गतः' पदच्छेद करने से अर्थ होगा कि भगवान् को अपने जनों में प्रेम नहीं था, इसलिए मोह का अभाव था जिससे जानने में अपना ज्ञान स्वतः प्रादुर्भूत हो गया ।

उपदेश के विना ज्ञान निष्ठा कैसे हुई ? इस शङ्का का 'महानुभावः' विशेषण से निराकरण करते हैं कि भगवान् महा प्रभाव वाले हैं, अतः आपने आसुरी माया को जान लिया, यह माया मेरा ही रूपान्तर (दूसरा रूप) है, कारण कि जब आत्मा को जानने की इच्छा होती है, तब ही आत्मा का ज्ञान होता है, यों कहने से ज्ञात होता हे कि उस कल्प में भी भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध ब्रह्म ही थे । भगवान् अज्ञत्व आदि लीला सब अवतारों में दिखाते हैं, अतः किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, परन्तु भागवत के उपक्रम अर्थात् आरम्भ में श्रीकृष्ण इस प्रकार के नहीं हैं यों यहां भी उनको साधारण 'देव' कहने वालों का दोष आगे कहा जाएगा, वह माया कहां से उत्पन्न हुई ? किसमें रही ? ये दो बातें कहते हैं कि 'मय' से उत्पन्न हुई और 'शाल्व' में रही ॥२८॥

आभास—ततो बोधेन तद्रूपे उपसंहृते तत्कार्याणां लयो जात इत्याह–**न तत्र दूतमिति** ।

आभासार्थ—ज्ञान शक्ति प्रकट होते ही माया रूप लीन हो गया, जिससे उसके कार्य भी समाप्त हो गए, यह 'न तत्र दूतं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।**
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

१—शाल्व के अन्तर्द्धान होने के बाद एक मुहूर्त्त में एक पुरुष आया, दूसरे मुहूर्त्त में शाल्व ने माया का दिखाऊ दिखाया और तीसरे मुहूर्त्त में विचार करते हुए शान्त रहे ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार ज्ञान शक्ति प्रकट करते ही, जैसे जागृत पुरुष स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता है, वैसे वहां युद्ध में भगवान् ने, न तो दूत को देखा और न पिता के शरीर को देखा, केवल सौभ विमान में बैठकर आकाश में घूमते हुए शाल्व को देखा, अनन्तर उस शत्रु को मारने की तैयारी की ॥२९॥

सुबोधिनी—अनेनापि भगवत्त्वमेव साधितम् ॥ अन्यथा मायिकोपसंहारे हेत्वभावः, **दूतः पितुः** शरीरं च पूर्वं दृश्यमानमपि **प्रबुद्धः** सन् पश्चादाजौ युद्धस्थाने न **समपश्यत्** । यतोऽयमच्युतः । रूपान्तरस्थितः–तथैवेति ज्ञापयितुं गूढोर्थोऽयमिति दृष्टान्तमाह–**स्वाप्नं यथेति** । स्वप्नेऽपि स्वयमेव स्थितः परं रूपान्तरेणेति रूपान्तरस्वीकारे तस्यादर्शनं युक्तं । चकारेण मायामनोरथादिकमपि संगृह्यते–ततः **अम्बर चारिणम् रिपुं** सौभस्थमालोक्य मारणपापेन मदादेवभगवतोः उपेक्षणाद्रक्षकाभावात् निहन्तुमुद्यत इति पूर्वपक्षः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—इससे भी यही सिद्ध होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं । यदि भगवान् न होते तो मायिक पदार्थों के नष्ट हो जाने में कोई दूसरा कारण ही नहीं था । दूत और पिता का शरीर पहले देखे हुए दोनों को, ज्ञान प्रकट करते ही युद्ध स्थान पर न देखा क्योंकि ये 'अच्युत' ही थे केवल रूपान्तर था, वैसे ही जताने के लिए कहते हैं कि यह गूढ अर्थ है उसको समझाने के वास्ते दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे कि, स्वप्न भी देखने वाला स्वयं ही होता है किन्तु रूपान्तर दूसरे रूप में होता है । जब वह पुनः स्वप्नस्थ रूप त्याग दूसरा असली रूप लेते हैं तो वह स्वप्न वाला स्वरूप देखने में नहीं आता है । यह योग्य ही है । 'च' पद से, माया से जो मनः कल्पित रूप होते हैं उनको भी ग्रहण किया है । पश्चात् आकाश में फिरते हुए सौभ में स्थित शत्रु को देख, उसको यदि मारा जाय तो पाप लगेगा । महादेव तथा भगवान् ने अब इसकी उपेक्षा की है अतः इसका कोई रक्षक नहीं है, जिससे श्रीकृष्ण ने इसके मारने का उद्यम किया, यह पूर्व पक्ष है ॥२९॥

आभास—सिद्धान्तमाह **एवमिति** ।

आभासार्थ—'एवमिति' श्लोक से लेकर सिद्धान्त कहते हैं ।

श्लोक—**एवं वदन्ति राजर्षे मुनयः केचनान्विताः ।**
यत्स्ववाचो विरुध्येरन्नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे राजर्षि ! मुनि लोग यों कहते हैं, कितने ही इनमें ऐसे भी हैं जो योग्य कहते हैं । प्रायः ऐसे हैं जिनके कहे हुए वाक्यों में विरोध होता है । किन्तु हमने वहाँ क्या कहा है और यहाँ क्या कहते हैं, इसका स्मरण व ध्यान ही नहीं रहता है ॥३०॥

सुबोधिनी—अस्य पूर्वपक्षत्वं युक्तिबोधेन वक्तव्यमेव प्रमाणबाधेनापि निरूप्यते । **एवं मुनयो वदन्तीति** मननेन संजातं यदार्षज्ञानं तेनोत्प्रेक्षया एव ज्ञात्वा वदन्ति मूलविरोधे आर्षज्ञानमप्रमाणमिति शास्त्र-

मर्यादा उपजीव्यविरोधात् । यथा प्रमाणबोधित-धर्मेणैव आर्षज्ञानं वृत्तमिति प्रमाणविरोधेन निरूपितानि साङ्ख्यादिमतान्यप्रमाणानि । एवं भगवदनुभावकृपाव्यतिरेकेण प्रमेयबलं विना आर्षज्ञानं न भवतीति तेन ज्ञानेन भगवति दोष-दर्शनं स्वजन्मनि मातृव्यभिचारदर्शनमिव सर्वथा बाधितविषयत्वादुपेक्ष्यम् । तथापि धृष्टा निर्लज्जा ये वदन्ति मूलभूतेपि भगवति दोषांस्तानुपहसति **मुनयो वदन्तीति** । ऋषय इत्यपि तथा । **राजर्ष** इति संबोधनं स्वपक्षपरपक्षाभिनिवेशयोः विश्वा-सोपहासौ बोधयति । एतेषां मध्ये **केचनैवान्विताः** युक्तवादिनः सर्वनिराकरणे अर्धनिराकरणं प्रयो-चनार्थम् । **नान्विता** इति पदच्छेदे सर्वनिराकरणं वा । उपहासे युक्तिमाह–**यत्स्ववाचो विरुध्येरन्निति** । ते किं कल्पान्तरव्यवस्थां योगबलेन ज्ञात्वा वदन्ति आहोस्वित् इदानींतनभगव्यव-स्थाम् । आद्ये नास्माकं कापि क्षतिः । द्वितीये तु 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति शास्त्रपर्यालोचनया तदनुगुणा एव धर्मा वक्तव्या इति विरुद्धकथनात् ते **नूनं न स्मरन्ति** । अपि च । तादृशार्षज्ञानेन उत अपि पूर्वमपि स्मृतमप्रमाणमेव । ननु सर्वेष्ववतारेषु अवतारधर्माः प्रवर्तन्ते अन्यथा वसुदेवसुतत्वादयोऽपि बाधितार्था इति न वक्तव्याः स्युः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यह पूर्व पक्ष है । इसको युक्ति से सिद्ध करना ही है । प्रमाण के बाध होने से भी यह पूर्व पक्ष सिद्ध होता है । इस प्रकार मुनि लोग कहते हैं, अर्थात् मुनि लोग जो कुछ कहते हैं वह ज्ञान मनन करने से उत्पन्न होता है । उसके अनुमान से अपने सिद्धान्त कहते हैं । किन्तु यदि वह सिद्धान्त, मूल शास्त्रों से विरुद्ध हो तो, वह ऋषियों का ज्ञान वा सिद्धान्त, प्रमाण नहीं है । इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा है । क्योंकि जिन शास्त्रों के ऊपर उनका आधार है, उनसे विरुद्ध हैं, जैसे प्रमाणों में (शास्त्रों में) कहे हुए धर्म के कारण ही ऋषियों को ज्ञान हुआ है । उस ज्ञान से विरुद्ध सिद्धान्त कहने वाले, साङ्ख्यादि मत, इसलिए ही अमान्य हैं, अतः भगवान् की प्रभावशाली कृपा के बिना अर्थात् प्रमेय बल के बिना आर्षज्ञान (ऋषि को सत्य ज्ञान) नहीं होता है, इस कारण से ऋषियों के ज्ञान से भगवान् में दोष देखना वैसा है जैसा माता का व्यभिचार देखना, सर्वथा असत्य है जिससे वह उपेक्षा के योग्य ही है । तो भी जो निर्लज्ज हैं और मूलभूत भगवान् में दोष देखते हैं, उन पर श्री शुकदेवजी उपहास करते हुए कहते हैं कि 'मुनयः वदन्तिः' यदि ऋषयः' पद हो तो वह भी वैसे ही है । राजर्षे ! यह सम्बोधन देने से, अपने पक्ष और अन्य के पक्ष में आसक्ति वालों पर विश्वास और उपहास किया है । इनमें से कितने ही योग्य कहने वाले हैं । सब को असत्य कहने वालों से आधे को असत्य बनाने वाले ठीक हैं । क्योंकि वे इस प्रकार कह कर शेष जो रह जाते हैं, उनका अपनी तरफ आकर्षण करते हैं । 'अथवा नान्विता' यों पदच्छेद करने से सबका निराकरण हो जाता है । उपहास में युक्ति कहते हैं, जो अपनी वाणी में विरोध होता है, इन शब्दों से, उपहास में तर्क दिया है, वे योग बल **से** अन्य कल्प की व्यवस्था कहते हैं ? अथवा इस समय की भगवान् की व्यवस्था कहते हैं, यदि प्रथम योग बल से कहता है तो इससे हमारी कोई हानि नहीं है, अबकी भगवान् की स्थिति कहता होवे तो श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इसलिए शास्त्रों के पर्यालोचन पूर्वक ही उसके योग्य ही धर्म कहने चाहिए, इससे विरुद्ध कहने से वे शास्त्र विरुद्ध होने से, उनको वास्तविक पूर्वा पर का अनुसन्धान नहीं रहता है । वैसे ऋषि ज्ञान से और प्रथम का स्मरण भी अप्रमाण ही है, सर्व अवतारों में अवतार के गुण होते हैं, नहीं तो वसुदेव का सुत होना आदि गुण झूठे होने से नहीं कहने चाहिए ॥३०॥

आभास—तस्मादवतीर्णस्य दोषवर्णनं न बाधितमिति शङ्कायामाह-**क्व शोकमोहौ स्नेहो वेति ।**

आभासार्थ—इस कारण से अवतार लेने वाले भगवान् के दोषों का वर्णन करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है यह 'इव शोकमोहौ' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—इव शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसंभवाः ।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यसुरेडितः ॥३१॥

श्लोकार्थ—शोक, मोह, स्नेह और भय ये सब अज्ञानी मनुष्यों को ही होते हैं, वे कहाँ ? और जिनमें ज्ञान विज्ञान व ऐश्वर्य सब इडित हैं एवं जो देवों से भी प्रशंशित हुए हैं, वे श्रीकृष्ण कहाँ ? ॥३१॥

सुबोधिनी— अयमवतारः नावतारान्तरवत् केनचिदंशेन अज्ञानशक्तिसहितो वा किन्तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव पूर्णशक्तिमतः ततश्च तत्र पूर्णरूपे प्रथमतो हीनभाव एव बोधयितुमनुचितः भक्तोत्कर्षबोधनाभावात् तत्रापि पित्रर्थं शोकः मोहश्च । मायिके पितृत्वबुद्धिस्तस्मिंश्च स्नेह इति । वेत्यनादरे । तदनुगुणं वचनं च 'पिता मे बलवान्विधिः' इत्यादि । एते कथं न भवन्तीत्याह **अज्ञसंभवा** इति । अज्ञानगृहीत एवं चैतन्यै एतेऽन्तःकरणस्य धर्माः संभवन्ति । प्रकृतेऽप्येवमेवास्त्विति चेत्तत्राऽऽह **क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्य** इति । भगवति सर्वदा त्रयं सिद्धं सर्वलीलास्वपि अखण्डितं विज्ञानमात्मानुभवः, ज्ञानं सर्ववस्तूनां ऐश्वर्यं पूतनासुपयःपानप्रभृति सर्वत्र त्रयाणां निरूपणात्, यत्राज्ञानं बाल्ये सर्वजनीनं तत्र यदि नास्ति तदा कथमिदानीं जीवानामपि विवेकदशायां तत्संभवेत् । न च लोकास्तथैव बोधयन्त इति पक्षः लोकानामपि भगवान्निरतिशयैश्वर्य इति बुद्धिः । यतः **सुरैरनुक्षणमीडितः** । उपलक्षणमेतत् । पारिजातहरणगोवर्द्धनोद्धरणकालियदमनादीनि पामराणामपि माहात्म्यज्ञापकानि भगवच्चरित्राणि सन्ति । अतः सर्वथास्मिन्नवतारे केनाप्यंशेनाज्ञानादिकथनं बाधितविषयमेव ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह अवतार, अन्य अवतारों की तरह किसी अंश से अथवा अज्ञान शक्ति सहित प्रकट हुवा है, यों नहीं है, किन्तु साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम पूर्ण शक्तिमान का ही अवतार है । कारण कि, इस हीन भाव के सुनने से भक्तों में भगवान् के लिए उत्कर्ष भाव का अभाव होगा । उस हीन भाव में भी पिता के लिए शोक और मोह, मायिक शरीर में पितृत्व बुद्धि एवं उसमें स्नेह कहना सर्वथा अनुचित है, 'वा' शब्द अनादर में है, मेरे पिता को कैसे ले गया ? विधि बलवान् है ऐसे उसके समर्थक वचन कहने योग्य नहीं है, ऐसा आप किस कारण से कहते हो कि यों कहना अनुचित है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अज्ञ सम्भवः' ये गुण अज्ञानियों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये गुण अज्ञान में से उत्पन्न होते हैं अतः जिनके अन्तःकरणों को अज्ञान ने घेर लिया है, वैसे चैतन्यों में ये गुण प्रकटते हैं । प्रकृत प्रसंग में भी यों ही है अर्थात् श्रीकृष्ण के चैतन्य को भी अज्ञान ने घेर लिया है यों समझिये, इसके उत्तर में कहा है कि यों नहीं है, क्योंकि, श्रीकृष्ण तो अखण्डित विज्ञान, ज्ञान और ऐश्वर्यवान हैं जिससे ये तीन हीं सर्व काल में आपमें सिद्ध हैं, सर्व प्रकार की लीला करते

हुए भी आपका विज्ञान अखण्डित रहता है जिससे आत्मस्वरूप का अनुभव, सर्व वस्तुओं का ज्ञान, पूतना के प्राणों को पय के साथ पान करना आदि लीला का स्मरण सदैव रहता है, बचपन में सबमें अज्ञान रहता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, वह भी जिनमें नहीं है तब इस समय जबकि मनुष्य भी समझ सकते हैं तो आपमें अज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि कहो कि लोगों को ऐसा ज्ञान दिया जाता है तो यह कहना भी उचित नहीं है, भगवान् में तो लोगों से बिलकुल विशेष असीम ऐश्वर्य बुद्धि है यों लोग भी जानते हैं क्योंकि आपकी प्रतिक्षण देवता स्तुति कर रहे हैं, यह स्तुति तो केवल उपलक्षण मात्र है, पारिजात वृक्ष को स्वर्ग से ले आना, गोवर्द्धन पर्वत को सात दिन तक हस्त पर उठाना, कालिय नाग को वश में लाना आदि भगवान् के चरित्र तो पामरों को भी अपना माहात्म्य बताने वाले हैं, अतः इस अवतार में किसी भी अंश में अज्ञान आदि कहना सर्व प्रकार असत्य ही है ।।३१।।

आभास—किंच । यद्यस्मिन्नवतारे कोऽप्यंशः अज्ञानकृतः प्रदर्शनार्थो वा भवेत् तदायमवतार एव न भवेत् । मौक्षदानमेवास्यावतारस्य प्रयोजनम् । अन्यत्तु गौणमेव 'न्ऋणां निःश्रेयसार्थाय' इति वाक्यात् । अन्यथा कामादिभिर्भजने मोक्षो न स्यात् । 'भक्तियोगविधानार्थं' इत्यपि पक्षे माहात्म्यविघटकत्वादिदं चरित्रमसमञ्जसमित्यभिप्रेत्याऽऽह **यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्ययेति** ।

आभासार्थ—और विशेष, यदि इस अवतार में कोई भी अंश अज्ञान से किया हुआ होता अथवा केवल दिखाऊ[1] होता, तो यह अवतार ही नहीं कहा जाता, इस अवतार का प्रयोजन तो मुक्तिदान[2] ही है, दूसरे तो गौण हैं, यदि मोक्ष के लिए न होता तो, काम क्रोध आदि से भजन करने पर भी मोक्ष न देते । 'भक्तियोग विधानार्थं' भक्ति योग को सत्य सिद्ध करने के लिए, इस मतानुसार भी माहात्म्य ज्ञान के विघटक[3] होने से यह चरित्र असमंजस है,[4] इस अभिप्राय से 'यत्पादसेवोर्जित' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्या हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।**
लभन्त आत्मानमनन्तमीश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ।।३२।।

श्लोकार्थ—जिनके चरणों की सेवा से, वृद्धिगत आत्म विद्या से सत्पुरुष, अनादि काल से प्राप्त देहात्मवाद की अविद्या को नाश करते हैं जिससे अनन्त ईश्वर आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट, शरणागतों की गति रूप श्रीकृष्ण मोह में फँसे, यह सम्भव ही नहीं है ।।३२।।

१– बनावटी, २– १०.२९–४४ भी देखो, 'न्ऋणां निःश्रेयसार्थाय' इस वाक्यानुसार ३– नाशकारक, ४– दुविधा में डालने वाला है ।

सुबोधिनी—यस्य **पादसेवया ऊर्जिता आत्मविद्या** भवति । ब्रह्मविच्चरणसेवया उत्पन्ना भगवच्चरणसेवया पुष्टा भवति । बीजभावदेहभावयोर्लोके महान् विशेषः । तथा गुरोर्भगवतः सकाशाच्च जायमानज्ञानविशेषः । एवं यत्र चरणसेवकानामन्देशामेवं भवति । यत्र च गुरोरपि मोहो निवार्यते तत्र कथं भगवन्मोहसंभवः । किंच । न केवलं तेषां ज्ञानमेवोत्पद्यते किन्तु तेन ज्ञानेन **अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति** नाशयन्ति । अनादिर्योऽयमात्माग्रहः ततो **विपर्ययः** देहादिबुद्धिः तत्र योयमाग्रहः समूलकमज्ञानकार्यं नश्यतीत्यर्थः । न केवलं तावन्मात्रं किन्त्वज्ञाननिवृत्त्यनन्तरं **आत्मानं** भगवन्तमपि **लभन्ते** । ननु स्वात्मालब्ध एव को विशेष इति चेत्तत्राह **अनन्तमीश्वरमिति** । अपरिच्छेद ऐश्वर्य आत्मना आत्मन्येव तत्रश्वर्य तच्चेवेति सर्ववादिसंमतं परिच्छेदस्तु केषांचिन्मते आविद्यकः । उभयथापि विशिष्टात्मा सायुज्य एव प्राप्तो भवति । ततश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि चरणसेवामात्रेण निषिद्धप्रकारेणापि अविद्यानिवर्तकं ज्ञानं अनुपदमेव सायुज्यं च ज्ञानमार्गेऽपि जन्मकोटिभिः साध्यं कथं लभन्ते । अतस्तेषामस्मिन्नप्यवतारे अज्ञानादिवर्णनं शास्त्रान्तरकरणज्ञानवदुपेक्ष्यमेव । ननु प्रदर्शनार्थं शिवतद्भक्तमाहात्म्यकथनार्थं वा तथा लीलाप्रदर्शनं भविष्यतीति चेत् । तत्राऽऽह **परमस्य सद्गतेरिति** । कालादेरपि परस्य को महादेवतद्भक्तानुरोधः सतां गतेश्च कथं मोहप्रवर्तकत्वम् । सन्त एव न मोहं प्रदर्शयन्ति कुतस्तेषामपि गतिः । अवतारान्तरेऽपि भक्तैः सहलीलायामेव पराजयादिवर्णनम् 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका' इति प्रदर्शनार्थम् तस्मात्प्रकृते मोहहेतोः कस्याप्यभावात् । **नु** इति निश्चये न कुतो मोहः ।।३२।।

व्याख्यार्थ—जिस (श्रीकृष्ण) की सेवा से आत्मविधा बढकर दृढ़ होती है, ब्रह्मवेत्ताओं की चरण सेवा से आत्मविद्या उत्पन्न होती है, फिर वह भगवान् की चरण सेवा से बढ़कर दृढ़ होती है, जैसे बीज भाव और देह भाव में बहुत भेद है, वैसे ही गुरु से प्राप्त ज्ञान में और भगवान् से प्राप्त ज्ञान में भी बहुत भेद है क्योंकि गुरु प्राप्त ज्ञान दृढ़ नहीं होता है जब तक भगवत्कृपा से वह बढ़कर दृढ़ नहीं होता है यह भी भेद है । भगवच्चरणों की सेवा करने वालों का मोह नष्ट होकर ज्ञान पूर्ण रूप से पुष्ट होता है तथा जिससे गुरु का भी मोह नष्ट होता है, वहाँ भगवान् में मोह होना, कैसे संभव हो सकता है ? और विशेष उनमें केवल ज्ञान ही उत्पन्न होता है यों नहीं है, किन्तु उस ज्ञान से, वे अनादि देहात्मवाद[1] अज्ञान को नाश करते हैं, अर्थात् जीव को आत्मस्वरूप का जो अनादि सत्य ज्ञान था वह अविद्या से नष्ट होकर देह ही आत्मा है ऐसा अज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस अज्ञान में अविद्या के कारण आग्रह हो जाता है, वह अविद्या कृत झूठा आग्रह नष्ट होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानानन्तर आत्मरूप भगवान् को भी प्राप्त कर लेते हैं ।

अपनी आत्मा तो प्राप्त ही है इसमें कौनसी विशेषता हुई ? यदि यों कहते हो तो, इसका समाधान यह है कि, जो आत्मा आप प्राप्त ही है कहते हो वह तब ऐश्वर्य और अनन्तता वाली नहीं थी उसमें उस समय ऐश्वर्य और अनन्तता तिरोहित थी अब भगवान् में सायुज्य होने से उसमें ऐश्वर्य और अनन्तता आदि गुण प्रकट हुए हैं, यही विशेषता है । इसलिए ही 'अनन्तमीश्वरं' विशेषण कहे हैं । असीम ऐश्वर्य आत्मा[2] में ही है, अतः जब जीव रूप आत्मा उस परमात्मा में सायुज्य प्राप्त करता है तब वह भी वैसा हो जाता है, सर्व वादी इस प्रकार ही मानते हैं । किन्हीं

१– देह ही आत्मा है इस प्रकार के अज्ञान को, २– परमात्मा में, न कि जीव रूप आत्मा में

के मत में यह परिच्छेद[1] अविद्या कल्पित है, दोनों मतों के अनुसार जब सायुज्य प्राप्त होता है तब ही विशिष्टात्मा[2] की प्राप्ति होती है, एक ही जन्म में केवल चरण सेवा करने से एवं जो कामादि सायुज्य प्राप्ति में बाधक हैं उनसे भी, अविद्या का नाश करने वाला ज्ञान, और ज्ञानमार्गानुसार कोटि जन्मों से प्राप्त होने वाला सायुज्य शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, जैसे अन्य शास्त्रों में कहे हुए साधनों से ज्ञान प्राप्त होगा, उसकी उपेक्षा की जाती है, वैसे ही इस अवतार में मुनियों ने जो अज्ञान आदि का वर्णन किया है वह भी उपेक्षा के योग्य है।

दिखाने के लिए अथवा शिव भक्त की महिमा कहने के वास्ते यों लीला करते होंगे ? इस पर कहते हैं कि 'परमस्य सद्गतेः' ये उत्तम सत्पुरुषों के फलरूप हैं, कालादि से भी जो पर[3] (भगवान्) हैं उनके आगे महादेव और उसके भक्त का अनुरोध[4] क्या वस्तु है ? जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह के प्रवर्तक कैसे होंगे ? जो सत्पुरुष हो मोह नहीं दिखाते हैं अर्थात् मोह को प्राप्त नहीं होते हैं, तो जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह कैसे दिखावेंगे ? दूसरे अवतारों में भी, मेरे भक्तों की पूजा विशेष अधिक है' यों दिखाने के लिए ही भक्तों के साथ लीला करने में ही पराजय आदि का वर्णन है अतः प्रकृत प्रसङ्ग में अर्थात् श्रीकृष्ण में मोह होने का कोई भी कारण नहीं है, इसलिए 'नु' पद से कहा है कि निश्चय से श्री कृष्ण में कैसे मोह होगा ? अर्थात् मोह नहीं है ॥३२॥

आभास—तर्हि अत्र शाल्वयुद्धे किं जातमित्याकाङ्क्षामाह **तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसेति**।

आभासार्थ—तब यहां शाल्व के युद्ध में क्या हुआ ? इसकी आकांक्षा में 'तं शस्त्रपूगैः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः।**
विध्वाच्छिनद्धर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥

श्लोकार्थ—अमोघ पराक्रम वाले भगवान् ने अनेक शस्त्रों से प्रहार करते हुए, शाल्व को अपने सामर्थ्य से बाणों से वेधकर, उसके कवच, धनुष व मस्तक के मणि को काटकर, शत्रु के सौभ विमान को भी गदा से तोड़ डाला ॥३३॥

सुबोधिनी—अत्र केचिन्मोहदर्शनप्रभृति सर्वमेव बाधितं किन्तु गृह एव विद्यमाने भगवति तस्मिन्नागते **शस्त्रपूगैः प्रहरन्तं** मारितवानित्याहुः। अन्ये त्विन्द्रप्रस्थादेवाऽऽगत्य स्वसैन्यं शस्त्रैः प्रहरन्तं दृष्ट्वा मारितवानिति, अपरे तु बाहुवेधादिमोहप्रदर्शनं जातमेव केवलं भगवति मोह एव निषिद्धः नत्वन्य इति पश्चान्मोहाभाव एव। पुनरागत्य शस्त्रैः **प्रहरन्तमिति** तत्र मतान्तरत्वात् कल्पान्तरे सर्वमेव यथार्थं भगवति तु तस्य सर्वस्यापि सप्रकरणस्य मोहस्य निषिद्धत्वात्। अष्टाविंशे दिवसे केवलं स्वयमागत्य मारितवानिति। एकः पक्षः सभार्यो वा समागत वा मारितवानिति। **शस्त्रपूगैः** शस्त्रसमूहैः अवान्तरजातिभेदापन्नैः नानाशस्त्रोद्भवैर्वा **ओजसा प्रहरन्तं** शाल्वं **शरैस्त्रिभिर्विध्वा** तैरेवाच्छिनत्। **वर्म** धनुः **शिरोमणिं** च, पुनरन्यैर्बाणैः **सौभं** चकारात्तां च। ततो निकटं समागतं सौभं बाणप्रहारैरानीतं **गदया रुरोज**। पीडां संपादितवान्। हेत्याश्चर्ये ॥३३॥

१- हद-सीमा, २- परमात्मा, ३- उत्तम, ४- आग्रह वा प्रेरणा

व्याख्यार्थ—इस विषय में पृथक् पृथक् मत कहते हैं—

(१) कितने ही कहते हैं कि श्रकृीष्ण ने मोह दिखाया वहां से लेकर सब असत्य है, किन्तु भगवान् तो घर में ही विराजते थे, वहाँ शाल्व ने शस्त्रों से भगवान् पर प्रहार किया तब भगवान् ने उसको मारा,

(२) दूसरे कहते हैं कि इन्द्रप्रस्थ से आकर ही देखा कि अपनी सेना पर शस्त्रों से शत्रु प्रहार कर रहे हैं, उसी समय उसको मार डाला,

(३) तीसरे कहते हैं कि भगवान् की भुजा का वेध हुआ आदि वैसा मोह का प्रदर्शन भगवान् ने किया हैं, भगवान् में मोह ही निषिद्ध है न कि अन्य कुछ निषिद्ध है (मोह का प्रदर्शन जो कहा है वह सिद्धान्त के विरुद्ध है) पश्चात् मोह का अभाव ही कहा है। फिर आकर शस्त्रों से प्रहार करने वाले शाल्व को मारा, यह मतान्तर होने से दूसरे कल्प में सब ही यथार्थ हैं। भगवान् के सम्बन्ध में तो समस्त प्रकरण में कहे हुए मोह का निषेध है क्योंकि सिद्धान्त से विरोध है, २८ वें दिन केवल स्वयं (खुद) भगवान् ने आकर शाल्व को मारा है, एक पक्ष यह भी है कि भगवान् ने पत्नी के साथ आकर शाल्व को मारा है।

अनेक प्रकार के एवं विभिन्न जाति वाले शस्त्रों के समूहों से प्रहार करने वाले शाल्व को, शौरि ने तीन बाणों से बींधकर, उन बाणों से ही उसके कवच, धनुष और शिर के मणि को तोड़ डाला अनन्तर दूसरे बाणों से सौभ और शाल्व को वेध डाला, पश्चात् बाणों के प्रहारों से समीप लाए हुए शौभ को और उसको भी गदा सी पीड़ा की, अर्थात् टुकड़े कर दिए, 'ह' शब्द आश्चर्य प्रदर्शनार्थ दिया है ॥३३॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **तत्कृष्णहस्तेरितयेति**।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'तत्कृष्ण' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तत्कृष्णहस्तेरितया विघूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा।**
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यस्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—भगवान् के हस्त से प्रेरित गदा से वह विमान अनेक प्रकार से चूर्णित होकर जल में गिर पड़ा, तब शाल्व विमान छोड़ पृथ्वी पर खड़ा हो गदा ले शीघ्र भगवान् के पास आया ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रथमतः कालात्मा तत्रापि पूर्णा क्रियाशक्तिः। तया च प्रेरिता गदा अत आध्यात्मिकादि सर्वरक्षकाणां निवृत्तत्वाद् **विघूर्णितं** सत् **गदया** सह **तोये सहस्रधा** भूत्वा **पपात**।

गदयेत्यनुवादो वा। करणत्वं तु प्रहार एव। पुनर्हस्ते वा समागमनम्। ततः **शाल्वस्तद्विसृज्य भूतलमास्थितः** सन् गदामुद्यम्य भ्रान्तः सन् **अच्युतमभ्यगात्**। अच्युत एवायं किं गमनेन पराक्रमेण वा ॥३४॥

व्याख्यार्थः—पहले तो श्रीकृष्ण स्वयं काल रूप, फिर आपकी पूर्ण क्रियाशक्ति रूप श्रीहस्त, जिससे प्रेरित जो गदा थी, उस गदा के प्रताप से सौभ के आध्यात्मिक आदि रक्षक निवृत्त हो गए, इसलिए वह सौभ घूमता हुआ अनेक टुकड़े होकर जल में पड़ा, 'गदया' शब्द पहले कहे हुए का केवल अनुवाद है। सौभ के जो टुकड़े हुए, वे तो प्रहार से ही हुए थे। वह गदा पुनः भगवान् के हस्त में आ गई, अनन्तर शाल्व, सौभ को छोड़, स्वयं पृथ्वी पर खड़ा होकर गदा ले भ्रान्त हुआ अच्युत के पास शीघ्र आ गया, ये तो अच्युत हैं, इनके पास गदा लेकर आना व पराक्रम से आना दोनों व्यर्थ हैं ॥३४॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **आधावत** इति।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'आधावतः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक - **आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाथ रथाङ्गमद्भुतम्।**
वधाय शाल्वस्य लयार्कसंनिभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥

श्लोकार्थ—दौड़ते आते हुए शाल्व का गदा सहित हस्त, भाले से काटकर पश्चात् उसके वध के लिए, प्रलय काल के सूर्य के समान सुदर्शन चक्र धारण करते हुए भगवान्, सूर्य सहित उदयाचल के समान, शोभा देने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—**भल्लेन** हस्तच्छेदः क्रियाशक्तेः प्रथक्करणार्थः। ततो **रथाङ्गेन** मोक्षदानार्थं **अद्भुतं रथाङ्गं लयार्कसंनिभं** दर्शनेनैव मृत्युभयजनकं **बिभ्रद्भगवान् बभौ**। तावतैव सर्वेषां प्रातःकाल इव महत्सुखं जातमित्याह **सार्क इवोदयाचल** इति। किञ्चित्कालं शस्त्रं धृत्वा स्थितिः महादेवादिपरीक्षार्था यद्यस्ति कश्चिदस्य रक्षकः तदा समायात्विति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भाले से शाल्व का हस्त इसलिए काट डाला कि उसकी क्रियाशक्ति उससे प्रथक् हो जावे पश्चात् उसको चक्र से मोक्ष देना था इसलिए सुदर्शन चक्र धारण किया, वह अद्भुत चक्र, प्रलय के सूर्य के समान चमक रहा था, अतः उसके दर्शन से ही मृत्यु भय उत्पन्न हो जाता, ऐसे चक्र को धारण करते हुए भगवान् शोभित होने लगे, जैसे प्रातः समय होते ही सबको सुख प्राप्त होता है वैसे ही अब सबको महान् आनन्द प्राप्त हुआ, इसलिए कहा है कि 'सार्क इवोदयाचः' सूर्य सहित उदयाचल जैसे सुखद हैं वैसे यह भी सुखद हुए। भगवान् चक्र को धारण कर कुछ समय ठहर गए, जिसका कारण यह है कि भगवान् कहने लगे कि कोई भी महादेव आदि देव इसका रक्षक होवे तो अब बचाने के लिए सामने आ जावें ॥३५॥

श्लोक - **जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरमायिनो हरिः।**
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेतिवचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

शाल्व-उद्धार

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्लोकार्थ—इन्द्र ने जैसे वज्र से वृत्र का शिर काट डाला, वैसे भगवान् ने अनेक माया करने वाले शाल्व का किरीट और कुण्डल सहित शिर उस चक्र से उड़ा दिया, उस समय उसके पक्ष वालों ने बहुत हाहाकार शब्द किए ।।३६।।

सुबोधिनी—ततः न कस्यापि समागमने **तेनैव शिरश्चिच्छेद** । अन्यार्थं चक्रं धृतमिति तुच्छत्वादस्य वधोऽन्येन भविष्यतीति तेनैवेत्युक्तम् । **सकुण्डलमिति** । सर्वदेवाधिष्ठितमपि तत्रापि **पुरमायिनः** पुरलक्षणा मोहमाया यस्य, एतादृशस्यापि वधे हेतुः **हरिरिति** । सर्वदुःखहर्ता । एतस्यैव च मोक्षार्थम् । किञ्च । यद्ययं जीवेत् तदा सर्वोपद्रवं कुर्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽह **वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दर** इति । तदा तदीयानां **नृणां हाहेति वचः** अभूत् ।।३६।।

व्याख्यार्थ—यों कुछ समय ठहरने के बाद भी शाल्व का कोई रक्षक नहीं आया तब भगवान् ने उस चक्र से ही उसका सिर काट डाला । उससे ही इसका शिर इसलिए काटा कि भगवान् ने यह चक्र इसके शिर काटने के लिए ही धारण किया था । कारण कि इसको मोक्ष देना था, चक्र से शिर कटने से इसका मोक्ष होने वाला था, अतः यह चक्र दूसरों के लिए धारण नहीं किया था और मोक्ष करने के कारण दूसरे शस्त्र से भी शिर नहीं काटा । यद्यपि वह इतना तुच्छ था कि इसका शिर अन्य शस्त्र से भी कट सकता था, शाल्व के कुण्डलों में सर्व देव स्थित थे और पुरलक्षण वाली मोहमाया इसमें थी ऐसे होते हुए भी ऐसे शाल्व का वध करने का कारण उसको दुःख से छुड़ाकर मोक्षानन्द देना था, क्योंकि आप 'हरि' सर्व दुःखहर्ता हैं, और विशेष यह भी है कि यदि यह जीवित (जिन्दा) होता तो सबको उपद्रव अर्थात् दुःखी करता, कैसे मारा ? जिसमें दृष्टान्त दे समझाते हैं कि जैसे इन्द्र ने वृत्र का शिर काटा था वैसे भगवान् ने इसका सिर काटा, उस समय उसके मनुष्यों ने हा हा शब्द कहे ।।३६।।

आभास—तावतापि युद्धं न निवृत्तमिति वक्तुमाह **तस्मिन्निपतित** इति ।

आभासार्थ—इससे भी युद्ध समाप्त न हुआ, यह 'तस्मिन्निपतिते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।**
नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्त्रो रुषाऽभ्यगात् ।।३७।।

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस पापी शाल्व के मरने और सौभ विमान के गदा से टूट जाने पर, आकाश में देवताओं के दुन्दुभि बजने लगे फिर मित्रों का बदला लेने के लिए, क्रोध करता हुआ दन्तवक्त्र आया ।।३७।।

सुबोधिनी— भगवानक्लिष्टकर्मा । तं न मारितवान् किन्तु पापेनैव पतितः पापेन सायुज्याभावो वा । **सौभे च गदया हत** इति । मायानिर्मितत्वात् कदाचित् स्थितिर्भवेत् । ततस्तस्मिन्प्रविश्य वान्यो युद्धं कुर्यात्, अतः प्रधानानन्तरमपि सौभस्य पृथगनुवादः । तदा **दन्तवक्त्रः** पूर्व-

मृतानां सखा **स्वापचितिं कुर्वन् सखीनामर्थे रुषा** क्रोधेन युद्धार्थमाभिमुख्येन समागतः अन्यैः सह युद्धेन क्लिष्टदशायां स्वस्य जयो भविष्यतीति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् जो भी कर्म करते हैं उसमें उनको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है। आपने उस (शाल्व) को मारा नहीं, वह तो पाप से नष्ट हुआ, पाप के कारण उसको सायुज्य की प्राप्ति नहीं हुई, सौभ का वध इसलिए पृथक् किया हुआ कहा है कि यदि सौभ का गदा से पृथक् नाश न किया होता तो कदाचित् उस मायावी में कोई अन्य रह गया हो तो वह फिर उसमें प्रवेश कर पुनः युद्ध करे, इसलिए मुख्य शाल्व के बाद भी उसका नाश अलग किया हुआ कहा है।

पहले मरे हुए मित्रों का बदला लेने के लिए क्रोध से दन्तवक्र शीघ्र युद्ध करने के लिए भगवान् के सामने उपस्थित हुआ।

दन्तवक्र ने यों विचारा कि भगवान् शाल्वादि से युद्ध करते हुए थक गए होंगे, अतः मेरी जीत शीघ्र हो जायेगी इस आशा से ही शीघ्र आया।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७४वें अध्याय (उत्तरार्ध के २८वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का सप्तम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

—अध्याय ७३ व ७४ में वर्णित लीला का पद—

"शाल्व वध"

राग मारू—

सुभट साल्व करि क्रोध हरि पुरी आयौ।
हत्यौ सिसुपाल कौ राजसू माहिं हरि, धाइ धावन जबै यह सुनायौ ॥
बृच्छ बन काटि महलात ढाहन लग्यौ, नगर के द्वार दीन्हे गिराई।
सर्प पाषान की वृष्टि करि लोक पर, वायु अति वेग सौं पुनि चलाई ॥
प्रद्युम्न सात्यकि निकसि सन्मुख भए, बन्धु सारन सुनत बेगि धाए।
तहाँ चारुदेष्न हूं साजि दल बल सकल, हाँकि रथ तुरंग ता ठौर आए ॥
तिमिर कौ बान तब साल्व मारयौ फटकि, प्रद्युमन बान दीपति चलायौ।
मिट्यौ अंधकार तब बान बरषा करी, तुरंग रथ सारथी स्यौं गिरायौ ॥
सैन के लोग पुनि बहुत घायल किए, ध्वजा धर धर परयौ मुरझाई।
साल्व यह देखि के चकित सो ह्वै रह्यौ, सस्त्र के गहन की सुधि भुलाई ॥
असुर विद्या समर बहुरि लाग्यौ करन, कबहुं लघु कबहुं दीरघ सु होई।
गुप्त ह्वै कबहुं कबहुं परगट देखियै, कबहुं कर कबहुं नभ बसै सोई ॥

अगिनि कबहुँ कबहुँ बारि बरषा करै, प्रद्युमन सकल माया निवारी।
साल्व परधान द्यौमान मारी गदा, प्रद्युमन मूरछित सुधि बिसारी ॥
धर्मवित सारथी गयौ एकान्त लै, उहाँ जब चेत ह्वै सुधि सँभारी।
खीझि कह्यौ ताहि क्यों मोहि लायो इहाँ, मम पिता मातु कौं लगी गारी ॥
कहि हैं कहा मोहिं राम भगवान सुनि, नारि मम सुनत अति दुखित होई।
मरैं रन सुजस परलोक सुख पाइये, मंद मति तें दोऊ बात खोई ॥
धर्मवित कह्यो करि बिनय मम चूक नहिं, सारथी धर्म मोहिं गुरु सिखायौ।
मूरछित सुमट नहिं राखियै खेत मैं, जानि यह बात मैं इहाँ ल्यायौ ॥
प्रद्युमन कह्यौ जो भई सो भई अब, बात जनि काहु सौं यह सुनैये।
ताहि दे सपथ, करि आचमन पुनि कह्यो, चलो रन भूमि अब जैये ॥
आइ रन भूमि में सबनि धीरज दियौ, साल्व रथ-तुरंग चारो संहारे।
छत्र धुज तोरि मारयौ बहुरि सारथी, देखि यह सुभट डरि गए सारे ॥
हस्तिनापुर गए हुए हरि पांडु गृह, तहाँ ते चले यह बात जानी।
साल्व उत्पात कियौ द्वारिका माहिं बहु, हाँकि रथ कह्यौ सारंग पानी ॥
सारथी पाइ रूख दये सटकारि हय, द्वारिकापुरी जब निकट आई।
साल्व के भटनि लाखि कटक भगवान कौ, आपने नृपति सौं कह्यो जाई ॥
सुनि सौं भगवान कैं आइ सनमुख भयौ, सारथी ओर बरछी चलाई।
ताहि आवत निरखि स्याम निज साँग सौं, काटि करि साल्व की सुधि भुलाई ॥
बहुरि तिहि कोपि निज बान संधान करि, धनुष भगवान कौ काटि डारयो।
टूटतैं धनुष के सब्द आकास गयौ, साल्व निज जिय समुझि यों उचारयौ ॥
रूकमिनी माँग सिसुपाल की तुम हरी, बहुरि तिहिं राजसू मैं संहारौ।
जाइहौं अब कहाँ दाँव लैहौं इहाँ, छाँड़ि सो बिचार आयौ संभारौ ॥
कह्यो भगवान सुनि शाल्व जे सूर नर, ते नहीं करत निज मुख बढ़ाई।
जे करैं, सूर तिनकौ नहीं जानिये, भाषि यह गदा ताकौ चलाई ॥
गदा कैं लगत ही गयौ सो गुप्त ह्वै, धारि धावन रूप यह सुनायौ।
कह्यो बसुदेव जगदीस आसचर्ज यह, तुम अछत साल्व मोहिं बांधि लायौ ॥
बहुरि करि कपट बसुदेव तह प्रगट कियौ, कहयौ तिन नाथ मैं दुखित भारी।
साल्व तरवार लै स्याम के देखतैं, डारि दयौ सीस ताकौ उतारी ॥
लख्यौ भगवान करि कपट इन यह कियौ, तासु माया तुरत हरि निवारी।
भागि निज पुर चल्यौ स्याम पहिलैं पहुंचि, खैंचि कै गदा ता सीस मारी ॥
गदा जुद्ध साल्व कीन्हौं बहुत बेर लौं, बहुरि हरि साँग ताकौ चलाई।
लगत ताकैं गए प्रान वाके निकसि, सुरनि आकास दुंदुभि बजाई ॥
सीस ताकौं बहुरि काटि तरवार सौं, मगर सम समुद्र मैं डारि दीन्हौ।
सूर प्रभु रहै ता ठौर दिन और कछु, मारि दँतवक्र पुर गवन कीन्हौं ॥

॥ श्री हरिः ॥

श्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः

सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण **अध्याय ६८ से ७४**

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा	५	१	१४७
अथ राजाऽते क्षौमे	५	२२	१६०
अथर्त्विजो महाशालाः	५	२५	१६२
अथर्वा कश्यपो धौम्यः	४	६	१०८
अथादिशत् प्रयाणाय	१	१२	१२
अथान्यदपि कृष्णास्य	६	१	१७६
अथो न राज्यं मृग-	३	१४	८७
अथो मुनिर्यदुपतिना	१	१८	१६
अद्य प्रभृति वो भूपाः	३	१८	६०
अन्तः पुरजनैः प्रीत्या	१	३८	३०
अपरे च महेष्वासाः	६	१५	१८५
अभिवन्द्याथ राजानम्	३	३४	१००
अयं तु वयसा तुल्यः	२	३२	६४
अयुते द्वे शतान्यष्टौ	३	१	७६
अर्जुनेन परिष्वक्तः	१	२८	२२
अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यम्	४	१६	११६
असौ वृकोदरः पार्थ	२	२६	६१
अस्माकं च महानर्थः	१	४	५
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च	२	२	३८
अधावतः सगदं तस्य	७	३५	२२२
आनर्तसौ वीरमरून्	१	२१	१८
आसीनः काञ्चने साक्षात्	५	३५	१६६
आह चाहमिहायातः	७	८	२०२
दूनि ब्रुवाणे गोविन्दे	७	२५	२११
इति मूढः प्रतिज्ञाय	६	४	१७८
इत्थं तयोः प्रहतयोः	२	३८	६८
इत्थं निशम्य दमघोषसुतः	४	३०	१२५
इत्थं राजा धर्मसुतः	५	३०	१६५
इत्थं सभाजितं वीक्ष्य	४	२६	१२४
इत्यर्च्यमाना सौभेन	६	१२	१८३
इत्यादिश्य नृपान् कृष्णः	३	२४	६५
इत्युक्तश्चोदयामास	७	११	२०३
इत्युक्तः प्रस्थितो दूतः	१	२०	१७
इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वम्	७	२०	२०८
इत्युक्त्वा भीमसेनाथ	२	३३	६५
इत्युक्त्वा याज्ञिये काले	४	६	१०८
इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत	४	२५	१२२
इत्युदारमतिः प्राह	२	२७	५६
इत्युद्धवचो राजन्	१	११	११
इत्युदीरितमाकर्ण्य	१	१	२
इन्द्रप्रस्थंगतः कृष्णः	७	६	२०१
इव शोक मोहौ स्नेहो	७	३१	२१७
ईशो दुरत्ययः कालः	४	३१	१२६
उदासीनाश्च देहादौ	३	२३	६४
उद्दीप्तः दीप्त बलिभिः	१	३३	२५
उपहूतास्तथा चान्ये	४	१०	१०६
उवास कतिचिन्मासान्	१	४६	३५
ऊचुः स्त्रियः पथि	१	३७	२६
ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यः	४	४७	१४०
ऋत्विक् सदस्य बहुवित्सु	५	८	१५१

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
ऋषीणां पितृ देवानाम्	२	८	४५
एक एवाऽद्वितीयोऽसौ	४	२१	११६
एकदा तु सभा मध्ये	२	१	३८
एकदान्तः पुरे तस्य	५	३१	१६६
एक पादोरूवृषण-	२	४४	७२
एकं पादं पदाक्रम्य	२	४३	७१
एतत्तेभिहितं राजन्	५	४०	१७२
एतद्विदित्वा तु भवान्	६	३३	१६५
एते ते भ्रातरो राजन्	२	१०	४७
एवमादीन्य भद्राणि	४	३८	१३३
एवमावेदितो राजा	२	३०	६२
एवं निर्भर्त्स्य मायावी	७	२७	२१३
एवं यदूनां शाल्वानाम्	७	५	२००
एवं युधिष्ठिरो राजा	४	१	१०३
एवं वदन्ति राजर्षे	७	३०	२१५
एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः	१	३१	२४
एष ते जनिता तातः	७	२६	२१२
कथं राममसंभ्रान्तम्	७	२४	२११
कालिन्दीं मित्रविन्दां च	१	४३	३३
कश्चिन्मतपरं लोके	२	११	४८
किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां	२	१६	५३
किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य	६	३०	१६३
कुरूवृद्धाननुज्ञाप्य	७	७	२०१
कृष्ण कृष्ण महाबाहो	७	२२	२०६
कृष्ण संदर्शनाह्लाद	३	७	८०
कृष्णाय वासुदेवाय	३	१६	८८
क्रतुराजेन गोविन्द	२	३	३६
क्वचिद्भूमौ क्वचिद्	६	२२	१८८
व्योम्नि	३	२	७७
क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः	३	३२	६६
गत्वा ते खाण्डव प्रस्थम्	७	४	२००
गद सात्यकि साम्बाद्याः	१	६	६
गायन्ति ते विशदकर्म	१	२४	१६
गृहेषु	१	१६	१५५
गाताबादित्र घोषेण	५	४०	३१
गुप्ता नृभिर्निरगमन्	१	३	१६६
गोविन्दं गृहमानीय	७	११	१५३
चतुर्भिश्चतुरो वाहान्	५	४५	१३८
चित्रध्वज पताकाग्र्यैः	४	३०	६८
चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिः	३	४६	१३६
जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते	४	१०	१०
जन्मत्रयानुगुणित	१	३१	६६
जरासंधवधः कृष्ण	३	३६	२२२
जरासंधं घातयित्वा	७	३८	१७१
जहार तेनैव शिरः	५	६	७६
जहास भीमस्तं दृष्ट्वा	३	२६	५६
जिघ्रन्त इव नासाभ्याम्	२	१३	८६
जीवताऽऽहाणार्थाय	३	२६	६७
त एव कृष्णाय	३	१६	१८५
गभीररंहसा	३	४१	१३५
त एवं मोक्षिताः	६	४१	६६
कृच्छ्रात्	४	३६	१३६
ततः प्रववृते युद्धम्	२	४२	१३६
ततः पाण्डुसुता क्रुद्धाः	४	३४	६५
ततश्चटचटा शब्दः	२	१२	११०
ततश्चैद्यस्त्वसंभ्रान्तः	२	२२	१८
ततः समे खले वीरौ	४	४६	१४१
ततस्ते देवयजनम्	१	२१	२०६
ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा	४	२१	२०६
ततोऽनुज्ञाप्य राजानम्	७	२८	२१३
ततो मुहूर्तं आगत्य	७	३३	१००
ततो मुहूर्तं प्रकृतौ	३	३४	२२१
तच्छ्रुत्वा प्रीतमनसः	७		
तत्कृष्णहस्तेरितया			

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
तत्तस्य चाद्भुतं कर्म	६	२०	१८७
तत्पादाव वानिज्यापः	४	२६	१२३
ततो युधिष्ठिरो राजा	५	२८	१६३
ततो रथोद्वेपभट सादि	१	१४	१३
तत्र तयोपसंगम्य	१	३६	२८
तत्र दुर्योधनो मानी	५	३६	१६९
तथोति गिरिशादिष्टः	६	७	१८१
तदे वदेव भवतश्चरणा	२	५	४२
तद्विज्ञाय महासत्वः	२	४२	७०
तन्नः समादिशोपायम्	३	१५	८८
तपोविद्याव्रतधरान्	४	३३	१२८
तमागत मुपाकर्ण्य	१	२३	१९
तयोरेवं प्रहरतोः	२	३९	६९
तर्पयित्वा खाण्डवेन	१	४५	३५
तस्मात् कृष्णाय महते	४	२३	१२०
तास्मिन्निपतिते पापे	७	३७	२२३
तामिन् सुसंकुल इभाश्च	१	३५	२७
तं गत्वातिथ्यवेलायां	२	१७	५२
तं च षोडशाभिर्विद्ध्वा	७	१४	२०५
तं द्युमद्दया शीर्ण	६	२७	१९१
तं मातुलेयं परिरभ्य	१	२७	२१
तं त्वाद्यनि शितैर्बाणैः	७	१८	२०७
तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्त	७	३३	२२०
ता देवरानुत सरवीन्	५	१७	१५७
तामापतन्ती नभसि	७	१३	२०४
तावदुत्थाय भगवान्	४	४३	१३७
ताश्च सौभपतेर्माया	६	१७	१८६
ते निर्जित्य नृपान्वीराः	२	१४	५०
ते पूजिता मुकन्देन	३	२७	९६
ते वै गदे भुजजवेन	२	३७	६७
तैलगोर सगन्धोद	५	१५	१५५
त्वत्पादुके अविरतम्	२	४	४०
दिष्टया व्यवसितं भूपाः	३	१९	९१
दुर्योधनमृते पापम्	४	५३	१४३

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
दुर्योधनं वर्जयित्वा	५	२	१४७
दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदय	१	२५	२०
देव दुन्दुभयो नेदुः	५	२०	१५९
देवर्षिपितृभूतानि	५	२६	१६२
देवासुर मनुष्याणाम्	६	६	१८०
दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयम्	१	२६	२१
द्वैपायनो भरद्वाजः	४	७	१०८
द्वैरथे स तु जेतव्यः	१	६	६
धर्मं विजानता युष्मन्	६	३२	१९५
न तत्र दूतं न पितुः	७	२९	२१४
न त्वयाभीरुणा योत्स्ये	२	३१	६३
न ब्रह्मणः स्वपरभेद	२	६	४३
न यदूनां कुले जातः	६	२९	१९३
नमस्ते देवदेवेश	३	८	८२
नर्तक्यो ननुतुर्हृष्टाः	५	१०	१५२
नरोष्ट्र गोमहिषरवरा-श्वतर्यः	१	१६	१५
नवैतेऽजित भक्तानाम्	४	५	१०७
न ह्येकस्याद्वितीयस्य	४	४	१०५
निन्दां भगवतः शृण्वन्	४	४०	१३५
निमित्तं परमीशस्य	१	८	८
निर्गमय्यावरोधधान्	१	१३	१३
निरूध्य सेनया शाल्वः	६	९	१८२
निरूपिता महायज्ञे	५	७	१५०
निशम्य धर्म राजस्तत्	३	३५	१०१
निशम्य भगवद्गीतम्	२	१२	४९
निशम्य विप्रियं कृष्णः	७	२३	२१०
नृवाजिकाञ्चन-शिबिकाभिः	१	१५	१४
नैनं नाथान्वसूयामः	३	९	८२
पत्नीसंयाजावभृथ्यैः	५	१९	१५८
पद्म हस्तां गदाशङ्ख	३	३	७७
प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य	६	१३	१८४

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
पितामहस्य ते यज्ञे	५	३	१४८
पितृवसुर्गुरूस्त्रीणाम्	१	४१	३२
पृथा विलोक्य भ्रात्रेयम्	१	३९	३१
प्राप्तं निशम्य नरलोचन	१	३४	२६
बन्धुज्ञातितृपान्मित्र	५	२३	१६०
बलेर्नु श्रूयते कीर्ति	२	२४	५७
बलं बृहद्ध्वजपटच्छत्र	१	१७	१५
बहुरूपैकरूपं तत्	६	२१	१८८
ब्रह्मर्षि सेवितान्देशान्	४	३७	१३२
ब्रह्मवेषधरो गत्वा	१	७	७
ब्राह्मणाः क्षत्रिय वैश्यः	४	११	११०
भगवन्निन्दनं श्रुत्वा	४	३९	१३४
भगवानेव तत्राङ्ग	५	२९	१६४
भवन्त एतद् विज्ञाय	३	२१	९२
भीमसेनोऽर्जुनः	२	१६	५१
भीमो महानसाध्यक्षः	५	४	१४९
भोजयित्वा वरान्नेन	३	२६	९६
भ्राजद्वरमाणिग्रीवम्	३	५	७९
मण्डलानि विचित्राणि	२	३५	६६
मानितो मानयामास	१	२९	२३
मृगतृष्णां यथा बाला	३	११	८४
मृदङ्ग शङ्ख पटहः	१	३०	२३
मृदङ्ग शङ्खपणव-मेनिरे कृष्ण भक्तस्य	५	९	१५२
य इदं कीर्तयेद्विष्णोः	४	१६	११२
यत्त्वया मूढ न सख्युः	७	५४	१४४
यत्पादसे वोर्जितया	७	१७	२०६
यदात्मकमिदं विश्वम्	४	३२	२१८
यदुक्त मृषिणा देव	१	२०	११७
यदुसृञ्जयकाम्बोज	५	२	३
ययातिनैषां हि कुलम्	४	१२	१५३
यष्टव्यं राजसूयेन	१	३५	१३०
यास्मिन्नरेन्द्र दितिजेन्द्र	५	३	४
		३२	१६६

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
यास्मिंस्तदा मधुपते	५	३३	१६७
यत्र यत्रोपलक्ष्येत	६	२३	१८९
युद्धं नो देहि राजेन्द्र	२	२८	६०
युयुधानो विकर्णश्च	५	६	१५०
युयं पात्रविदां श्रेष्ठाः	४	३२	१२७
ये स्युस्त्रैलोक्य गुरवः	४	२	१०४
योऽनित्येन शरीरेण	२	२०	५५
रथान्सदश्वानारोप्य	३	२८	९७
रथं प्रापय मे सूत	७	१०	२०३
राजदूतमुवाचेदम्	१	१९	१७
राजन् विद्धयतिथीन्	२	१८	५३
राजन्य बन्धवोह्यते	२	२३	५७
राजसूयाव भृथ्येन	४	५१	१४२
राजानश्च समाहूताः	४	१५	११२
राज्ञा सभाजिताः सर्वे	४	५२	१४३
राज्यैश्वर्यमदोनद्धः	३	१०	८३
लब्ध संज्ञो मुहूर्तेन	६	२८	१९२
वयं पुरा श्रीमदनष्ट-बुद्धयः	३	१२	८५
वर्णाश्रमकुलापेतः	४	३६	१३१
वर्णितं तदुपाख्यानम्	४	५०	१४१
वासोभिः पीतकौशेयैः	४	२८	१२४
विजित्य नृपतीन्-सर्वान्	२	९	४६
वितन्वन्तः प्रजातन्तून्	३	२२	९३
विधमन्तं स्वसैन्यानि	७	२	१९८
विविधानीह कर्माणि	४	२२	१२०
विव्याध पञ्चविंशत्या	६	१८	१८७
विश्वामित्रो वामदेवः	४	८	१०८
वीक्ष्य तत् कदनम्	७	९	२०२
वृथा त्वं कत्थसे मन्द	७	१९	२०७
व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति	६	३१	१९४
शतेनाताऽयच्छाल्वम्	६	१९	१८७

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
शत्रोर्जन्ममृति विद्वान्	२	४०	६९
शब्दः कोलाह-			
लोप्यासीत्	४	४४	१३७
शरैरग्न्यर्क संस्पर्शैः	६	२४	१९०
शाल्वः प्रतिज्ञामकरोत्	६	३	१७७
शाल्वः शौरेस्तु दोः			
स्वयम्	७	१५	२०५
शाल्वश्य कृष्ण			
मालोक्य	७	१२	२०८
शाल्वानीकपशस्त्रौघैः	६	२५	१९०
शाल्वाभात्यो-			
घुमान्नाम	६	२६	१९१
शिला द्रुमाश्चाशनयः	६	११	१८३
शिशुपालसखः शाल्वः	६	२	१७७
श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य	२	२५	५८
श्रीवत्साङ्क चतुर्बाहुम्	३	४	७८
श्रुत्वा द्विजेरितं राजा	४	२६	१२३
श्रुत्वा जितं जरासंधम्	२	१५	५१
श्वश्वा संचोदिता कृष्ण	१	४२	३३
सगणाः सिद्ध गन्धर्वाः	४	१४	१११
सगो पुराणि द्वाराणि	६	१०	१८२
सतां शुश्रूषणे जिष्णुः	५	५	१४९
सदसस्पतीनति व्रज्य	४	३४	१२९
सदर्स्यर्त्विग्द्विज श्रेष्ठाः	५	१३	१५४
सदस्याग्र्याहणार्हं वै	४	१८	११४
सपर्यां कारयामास	३	२५	९५
स भवानाविन्दाक्षः	४	३	१०५
सभायां भयक्लृप्तायाम्	५	३४	१६८
सम्यग्व्यवसितं राजन्	२	७	४४

प्रतीक	अ.	श्लोक	पृष्ठ
स लब्ध्वा कामगं यानम्	६	८	१८१
सर्व भूतात्म भूताय	४	३४	१२१
सर्वेजनाः सुररूचः	५	२४	१६१
स वै दुर्विषहो राजा	१	५	६
सव्रीडितो व्राग्वदनः	५	३९	१७१
स सम्राड्र्यमारूढः	५	१८	१५७
सस्नुस्तत्र ततः सर्वे	५	२१	१५९
स तूपस्पृश्य सलिलम्	७	१	१९८
सहदेवं तत्तनयम्	२	४६	७३
सहदेवं दक्षिणस्याम्	२	१३	५०
संवत्सारन्ते भगवान्	६	५	१७९
संचिन्त्यारिवधोपायम्	२	४१	७०
संसिक्तवर्त्म करिणां	१	३२	२५
संस्तूयमानो भगवान्	३	१७	८९
सात्यकि श्चारूदेष्णश्च	६	१४	१८४
साधयित्वा क्रतुं राज्ञः	४	४८	१४०
सुखं निवासयामास	१	४४	३४
सुत्येऽहन्यवनीपालः	४	१७	११३
स्थलेऽभ्य			
गृह्णाद्वस्त्रान्तम्	५	३७	१७०
स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु	२	२२	५६
स्वलंकृता नरा नार्यः	५	१४	१५४
हरिदासस्य राजर्षेः	५	२७	१६३
हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव	२	२१	५६
हाहाकारो महानासीत्	७	१६	२०६
हा हा कारो-			
महानासीत्	२	४५	७२
हैमाः किलोपकरणः	४	१३	१११
हैहयो नहुषो वेनः	३	२०	९२

शुद्धि-पत्र

सात्विक-साधन-अवान्तर प्रकरण—अध्याय ६८ से ७३

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२	करनी	करना
४	२७	करता	करना
७	२९	जायगी	जायगा
८	१३	स्वभीष्ट समये	स्वाभीष्ट समये
९	१४	किमद्योत्पादत	किमद्योत्पादन
१२	३०	कि, है	हटाना है
१५	१५	अपनो	अपनी
१६	१६	सँदशंनेन	संदर्शनेन
१८	१	प्रतिक्षा	प्रतीक्षा
१८	१२	सौवीर	सौवीरः
२०	२२	अन्तरानन्देन	हटाना है
२२	३	द्विर्भावे	विर्भावे
२५	७	उज्वल	उज्ज्वल
२८	२	उन्होंने	वे
३२	१२	का सम्भव	की संभावना
३३	२०	भ्रदा	भद्रा
३३	२६	स	स्र
४१	७	त्वात्पादुके	त्वत्पादुके
४७	१४	वाय्यादीना	वाय्वादीना
५१	६	खेतीहर	खेतिहर
५३	२५	प्रति का	प्रतिज्ञा
५६	१२	कपात	कपोत
५६	१४	अपर्ण	अर्पण
५६	२९	क्षत्रिपा	क्षत्रिया
५८	२२	श्न्द्र	इन्द्र
६०	२४		बलेनसह (जोड़ना है)
६२	१०	तट	तत
६२	३०	शत्र	शत्रु
६३	१०	दादामि	ददामि
६७	२१	ताग्तम्यार्थं	तारतम्यार्थं
६८	१६	शब्दस्तवोरिति	शब्दस्तयोरिति
६९	१७	लागर	लाकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७१	१३	प्रगृह्य	प्रगृह्य
७२	२	दट्टशः	दट्टशु
७२	२९	अलिङ्गनादि	आलिङ्गनादि
७३	१७	स्थिती	स्थिति
७६	२०	शतद्वन्यून्तता	शतद्वयन्यूनता
७७	१६	मानसो	मनसो
७८	५	स्त्रिध	स्त्रिविध
८१	८	हीने	होने
८४	२२	त्वादात्वमेव	त्वादापदात्वमेव
८६	७	धाष्टचाना	धाष्टर्चानां
८६	७	स्मरात	स्मराम
८६	२९	मृतृष्णि	मृगतृष्णि
८७	२७	कैशे	कैसे
८९	१०	सत्वन	स्तवन
९१	२७	सस्माष्मदात्याजिता	तस्मान्मदात्याजिता
९२	६	एव	एत
९२	१२	मार्त्सय	मात्सर्य
९२	१३	जयोजकः	प्रयोजकः
९४	३२	दत्ता	दत्त्वा
९४	१९	स्त्रग्विलेपनैः	स्रग्विलेपनैः
९५	२३	उण्कृष्टैः	उत्कृष्टैः
९५	१७	मुत्त	मुक्त
९६	२२	रजुः	रेजुः
९६	२५	प्रावडन्ते	प्रावृडन्ते
९६	१	विषेश	विशेष
९७	१	पर्ति	पति
९८	९	ज्ञापन्नाह	ज्ञापयन्नाह
९८	९	संमुतः	सँयुतः
९९	९, १२	पुजितः अविवन्द्याथ	पूजितः अभिवन्द्याथ
१००	२२, २५	—	तथापि (जोड़ना है)
१०१	३	—	तथापि (हटाना है)
१०१	४		

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	१०	योग्र	योग्य
१०५	१५	ह्यो	ह्यौ
१०६	२३	दृष्टाष्ट	दृष्टान्त
१०६	११०	आव्हान	आहवान
११२	३	गरुड़ापय	गरुड़ादयः
११२	२८	विधिमत्	विधिवत्
११३	७	मदा	महा
११६	१४	—	योग्यं (हटाना है)
११७	२६	कबवश्च	ऋतवश्च
११७	२७	सांख्ये	सांख्यं
११६	२८	इम	इस
१२०	२०	नहौं	नहीं
१२०	२७	परत्व	परंत्व
१२१	२८	गृहीत्वावरारः	गृहीतावतारः
१२१	२६	मन्यते	मन्येत
१२३	१	संमतिः	संमति
१२५	६	वाण	वाणी
१२८	५	—	किन्तु (जोड़ना है)
१२८	३०	ब्राह्मेष्वपि	ब्राह्मणेष्वपि
१३०	१७	दूःख	दुःख
१३१	२१	गुणातीति	गुणातीत
१३२	२१	चन्द्यभागाम्	चन्द्रभागाम्
१३३	२१	वाकाया	वाक्या
१३४	१६	तत्भासदः	तत्सभासदः
१४२	३	बहुविस्तारं	भहुविस्तरं
१४३	२	ययुर्मदा	ययुर्मुदा
१४३	३	आकास	आकाश
१४३	१०	सर्वसंतोष	सर्वसंतोषं
१४६	७	भिमोः	भीमो
१५१	२३	द्योतितत्	द्योतितम्
१५५	२०	सही	नहीं
१५६	३	ताषां	तासां
१५६	१४	युज्यते	युज्यन्ते
१५७	१	देदरानुत	देवरानुत
१५७	२	वमा	वमान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	२	मुचिरैः	रुचिरै
१५८	७	पूर्ववलण्यार्थम-क्तम्	पूर्ववैलक्षण्यार्थ-मुक्तम्
१५६	१४	ततः	ततःसर्वे
१६१	४	राजपूतानां	राजपूजितां
१६३	२७	बग्धून्	बन्धून्
१६४	१५	—	भगवतस्तु
१६४	२४	प्रतारेण	प्रतारणे
१६७	१	विश्व	विश्व
१६७	२२	चोभम्	शोभम्
१७४	१४	साधकांशः	साद्यनांश
१७४	२२	कथंचन	कथंजन (जोड़ना है)
१७५	शीर्ष	अध्याय ५	अध्याय ६
१७६	६	संयत्सराकालः	संवत्सरात्मकस्तु काल
१८१	२६	दुरालदं	दुरासदं
१८३	१६	फेंकने	फेंकते
१८४	१६	भगवान्तवीक्ष्य	भगवान्वीक्ष्य
१८४	२६	भानुदिन्दश्च	भानुविन्दश्च
१८७	१३	छाल्मे	छाल्वमे
१८८	२१	विलक्षतरा	विलक्षणता
१८८	२२	दिध्यास्त्र	दिव्यास्त्र
१८६	६	तत्प्रतिकारेण	तत्प्रतोकारेण
१६३	८	चित्तेत	चित्तेन
१६८	२२	लज्जया	लज्जया
२०२	१०	शिशुपात्र	शिशुपाल
२०४	२७	मगवान्	भगवान्
२०५	१५	स्वं	खं
२०६	१८	विराजनानः	विराजमानः
२०८	७	प्यमैक्रमिति	प्ययुक्रमिति
२१२	१३	कार्यमित	कार्यमिति
२१३	२१	से	ने
२१५	८	मदादेव	महादेव
२२०	२६	द्वर्भ	द्वर्म
२२१	५	श्रक्रीष्ण	श्रीकृष्ण
२२१	१४	सम्भन्ध	सम्बन्ध

श्री सुधर्मा स्वामी प्रकाशन मंडल (रजिस्टर्ड)
जोधपुर (राजस्थान)